ISSN-0971-8397

योजना

फरवरी 2015 विकास को समर्पित मासिक ₹ 10

संघीय ढांचा और भारतीय राजनीति

वित्तीय संघवाद व स्थानीय शासन
एम ए उम्मन

भारतीय संघवाद की स्थापना व विकासः सीखे-अनसीखे सबक
बलवीर अरोड़ा

विविधता का उत्सवःभारत की सफलता की कुंजी
आशा नारायण राय

विशेष आलेख
उदीयमान बाजार और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं
आलोक शील

फोकस
डिजिटल इंडिया कार्यक्रमः लोक प्रशासन सुधार की एक पहल
योगेश के द्विवेदी
नृपेन्द्र पी राणा
एंटोनिस सी सिमिन्टिरस
बनिता लाल

मुक्त विद्यालय-छुए मन, बदले जीवन

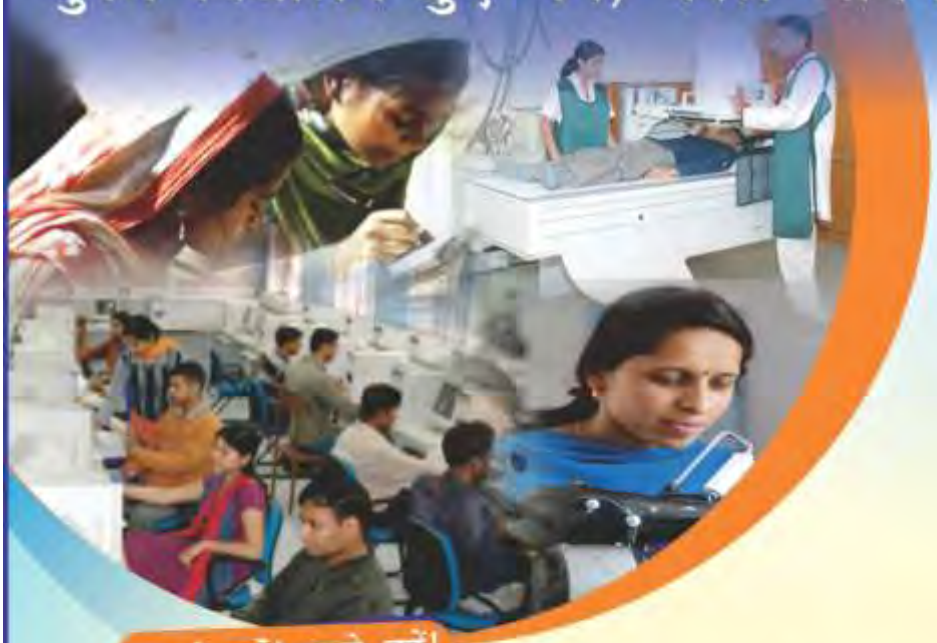

आओ पढ़ें! आगे बढ़ें!

अपनी शिक्षा आगे बढ़ायें...
मुक्त विद्यालय को अपनायें

पाठ्यक्रम	प्रवेश शुल्क (बिना विलम्ब)			प्रवेश के लिए तिथियां
	पुरुष	महिलाएं	छूट प्राप्त वर्ग	
• मुक्त बेसिक शिक्षा कक्षा–III, V एवं VIII	–	–	–	30 जून (प्रत्येक वर्ष)
• सेकेन्डरी (कक्षा - X)				ब्लाक-1 : 16 मार्च–31 जुलाई (बिना विलम्ब शुल्क)
(i) पाँच विषयों के लिए	₹ 1350	₹ 1100	₹ 900	1 अगस्त–15 सितम्बर (विलम्ब शुल्क के साथ)
(ii) प्रत्येक अतिरिक्त विषय के लिए	₹ 200	₹ 200	₹ 200	ब्लाक-2 : 16 सितम्बर–31 जनवरी (बिना विलम्ब शुल्क)
				1 फरवरी–15 मार्च (विलम्ब शुल्क के साथ)
• सीनियर सेकेन्डरी (कक्षा - XII)				ब्लाक-1 : 16 मार्च–31 जुलाई (बिना विलम्ब शुल्क)
(i) पाँच विषयों के लिए	₹ 1500	₹ 1250	₹ 975	1 अगस्त–15 सितम्बर (विलम्ब शुल्क के साथ)
(ii) प्रत्येक अतिरिक्त विषय के लिए	₹ 230	₹ 230	₹ 230	ब्लाक-2 : 16 सितम्बर–31 जनवरी (बिना विलम्ब शुल्क)
				1 फरवरी–15 मार्च (विलम्ब शुल्क के साथ)
• व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रम (6 माह से 2 वर्ष)	पाठ्यक्रमों एवं अवधि के आधार पर			सत्र - 1 : 30 जून (प्रत्येक वर्ष) सत्र - 2 : 31 दिसम्बर (प्रत्येक वर्ष)

प्रवेश के लिए अपने निकटतम अध्ययन केंद्र अथवा संबंधित क्षेत्रीय कार्यालय से संपर्क करें।
विलम्ब शुल्क, अध्ययन केंद्रों, क्षेत्रीय कार्यालयों आदि की विस्तृत जानकारी के लिए वेबसाइट www.nios.ac.in देखें।

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

(मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार का एक स्वायत्त संस्थान)

ए–24/25, इंस्टीट्यूशनल एरिया, सेक्टर–62, नोएडा, गौतम बुद्ध नगर (उ.प्र.)

टॉल फ्री नं. 1800-180-9393; ईमेल : lsc@nios.ac.in वेबसाइट : www.nios.ac.in

विश्व की सबसे बड़ी मुक्त विद्यालयी शिक्षा प्रणाली

YH-313/2014

योजना

वर्ष 59 ● अंक 2 ● फरवरी 2015 ● माघ-फाल्गुन, शक संवत 1936 ● कुल पृष्ठ 68

प्रधान संपादक
राजेश कुमार झा

संपादक
जय सिंह
ऋतेश पाठक

संपादकीय कार्यालय
648, सूचना भवन, सीजीओ परिसर,
लोधी रोड, नयी दिल्ली-110 003
दूरभाष: 24362971, 24366509
ईमेल: yojanahindi@gmail.com
वेबसाइट: www.yojana.gov.in
www.publicationsdivision.nic.in
http://www.facebook.com/yojanahindi

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
वी. के. मीणा

व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार एवं विज्ञापन)
सूर्यकांत शर्मा

दूरभाष: 26100207
फैक्स: 26175516
ईमेल: pdjucir@gmail.com

आवरण: **जी. पी. धोपे**

इस अंक में

संपादकीय	–	7
वित्तीय संघवाद व स्थानीय शासन	एम ए उम्मन	9
भारत में संघीय शासन प्रणाली: एक अवलोकन	पंकज कुमार झा	13
वित्तीय संघवाद: सीखे अनसीखे सबक	बलबीर अरोड़ा	17
भारतीय संघवाद: स्वायत्तता बनाम पृथकता	सौरभ दुबे	21
विशेष राज्य की मांग और सियासत	अरविंद जयतिलक	25
फोकस	योगेश के. द्विवेदी	
डिजिटल इंडिया कार्यक्रम: लोक प्रशासन सुधार की एक अनुकरणीय पहल	नृपेन्द्र पी.राणा एंटोनिस सी. सिमिन्टिरस बनितालाल	28
आर्थिक समेकन की नयी कहानी	पायल सक्सेना	34
विकास पथ	–	36
विशेष आलेख		
उदीयमान बाजार और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं	आलोक शील	37
विविधता का उत्सव: भारत की सफलता की कुंजी	आश नारायण राय	41
भारत में सहयोगात्मक संघवाद, विवाद और विरोधाभास	वंदना मिश्रा	45
संघ व राज्यों के आर्थिक संबंधों की पुनर्व्याख्या	अनुज कुमार अग्रवाल	48
संघीय व्यवस्था में नीति निर्देशक तत्वों की जवाबदेही	गीता चतुर्वेदी	51
संघीय व्यवस्था पर क्षेत्रीय राजनीति का प्रभाव	सुशांत झा	55
संघीय ढांचा व एकात्मकता का द्वंद्व	शिवानन्द द्विवेदी	59
रियासतों से भारत संघ बनने की कहानी	संजय श्रीवास्तव	63

योजना हिंदी के अतिरिक्त असमिया, बांग्ला, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, तेलुगु तथा उर्दू भाषाओं में भी प्रकाशित की जाती है। पत्रिका मंगवाने हेतु, नयी सदस्यता, नवीकरण, पुराने अंकों की प्राप्ति एवं एजेंसी आदि के लिए मनीआर्डर/डिमांड ड्राफ्ट/पोस्टल आर्डर 'अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग' के नाम से बनवा कर निम्न पते पर भेजें। व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार एवं विज्ञापन), प्रकाशन विभाग, पूर्वी खंड IV, तल VII, आर. के. पुरम, नयी दिल्ली-66 दूरभाष: 26100207, 26105590

सदस्य बनने अथवा पत्रिका मंगाने के लिए आप हमारे निम्नलिखित बिक्री केंद्रों पर भी संपर्क कर सकते हैं: सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नयी दिल्ली-110003 (दूरभाष: 24367260, 5610), हाल सं, 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली-110054 (दूरभाष: 23890205) *701, सी- विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन, बेलापुर, नवी मुंबई-400614 (दूरभाष: 27570686) *8, एसप्लानेड, ईस्ट, कोलकाता-700069 (दूरभाष: 22488030), *'ए' विंग, राजाजी भवन, बंसल नगर, चेन्नई-600090 (दूरभाष: 24917673) *प्रेस रोड नयी गवर्नमेंट प्रेस के निकट, तिरुअनंतपुरम-695001 (दूरभाष: 2330650) *ब्लॉक सं-4, पहला तल, गृहकल्प, एमजी रोड, नामपल्ली, हैदराबाद-500001 (दूरभाष: 24605383) *फर्स्ट फ्लोर, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलुरु-560034 (दूरभाष: 25537244) *बिहार राज्य कोऑपरेटिव बैंक भवन, अशोक राजपथ, पटना-800004 (दूरभाष: 2683407) *हॉल सं-1, दूसरा तल, केंद्रीय भवन, सेक्टर-एच, अलीगंज, लखनऊ-226024 (दूरभाष: 2225455) *अंबिका कॉम्प्लेक्स, फर्स्ट फ्लोर अहमदाबाद-380007 (दूरभाष: 26588669) के. के. बी. रोड, नयी कॉलोनी, कमान संख्या-7, चेनीकुटी, गुवाहाटी-781003 (दूरभाष: 2665090)

चंदे की दरें: वार्षिक: ₹ 100 द्विवार्षिक: ₹ 180, त्रैवार्षिक: ₹ 250, विदेशों में वार्षिक दरें: पड़ोसी देश: ₹ 530, यूरोपीय एवं अन्य देश: ₹ 730

योजना का लक्ष्य देश के आर्थिक विकास से संबंधित मुद्दों का सरकारी नीतियों के व्यापक संदर्भ में गहराई से विश्लेषण कर इन पर विमर्श के लिए एक जीवंत मंच उपलब्ध कराना है। योजना में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने है। जरूरी नहीं कि ये लेखक भारत सरकार के जिन मंत्रालयों, विभागों अथवा संगठनों से संबद्ध हैं, उनका भी यही दृष्टिकोण हो। पत्रिका में प्रकाशित विज्ञापनों की विषयवस्तु के लिए योजना उत्तरदायी नहीं हैं।

दृष्टि
The Vision
Most trusted & renowned institute among IAS aspirants
Test Series
For Preliminary Exam-2015
Most effective way to judge your preparation
General Studies & CSAT
Bilingual Test papers
Starts from:
8th February, 2015
Online Test Series also available
For More Details: visit: drishtiias.com
सामान्य अध्ययन
फाउंडेशन कोर्स–2016
निःशुल्क कार्यशाला
28 जनवरी
प्रातः 11:30 बजे
CSAT
निःशुल्क परिचर्चा
23 फरवरी
प्रातः 8:00 बजे
DLP
Distance Learning Programme
यह पाठ्य-सामग्री, विशेष रूप से ऐसे अभ्यर्थियों को ध्यान में रखकर तैयार की गई है जो किसी कारण से दिल्ली आकर कोचिंग लेने में असमर्थ हैं। यह पाठ्य-सामग्री सिविल सेवा परीक्षा के नवीन पाठ्यक्रम के अनुरूप है और इसे विभिन्न समसामयिक घटनाओं, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं समितियों की रिपोर्टों के माध्यम से अद्यतन (up-to-date) एवं परीक्षोपयोगी बनाया गया है।
सामान्य अध्ययन (प्रा.+मुख्य परीक्षा)
(30 Booklets)
सामान्य अध्ययन + सीसैट
(30+8 Booklets)
दिल्ली के अलावा देश के किसी भी शहर में हमारी कोई भी शाखा अथवा फ्रैंचाइज़ी नहीं है। विद्यार्थी किसी भी भ्रामक विज्ञापन से बचें।
641, Ist Floor, Dr. Mukherji Nagar, Delhi-9 Ph.: 011-47532596, (+91)8130392354,56,57,58,59
E-mail:info@drishtiias.com, drishtiacademy@gmail.com * Website: www.drishtiias.com
YH - 312/2014

आपकी राय

प्रासंगिक सामग्री

योजना की दिसम्बर माह की प्रस्तुति 'प्रत्यक्ष विदेशी निवेश एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार' भी समयानुकूल विषय के संदर्भों से जुड़ी है, अच्छा प्रयास है। भारतीय कारोबारी क्यों जाते हैं परदेश में भी अभिव्यक्ति जानदार और शानदार रही। इसी अंक में प्रस्तुत 'अप्रासंगिक कानून' भी विचारणीय प्रश्न है। इस अंक में उठाये गये विषय के दोनों पहलुओं पर विचार कर के ही हम प्रगति के सही सोच वाले सपनों की ओर अग्रसर हो सकते हैं। आप भी सफर यूं ही रोशनी और प्रकाश की ओर जारी रखेंगे।

छैल बिहारी शर्मा 'इन्द्र'
छाता, उ.प्र.

घरेलू बचत जरूरी

'प्रत्यक्ष विदेशी निवेश व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' विशेषांक अत्यन्त ज्ञानवर्धक रहा। भारतीय कारोबारियों के परदेश जाने का विश्लेषणात्मक अध्ययन जहां भारत सरकार को अपनी आर्थिक नीतियों का विश्लेषण करने का इशारा देता है वहीं उन आर्थिक व सामाजिक कारकों की भी चर्चा करता है जो भारत को 'उद्यम कौशल' से सम्पन्न करता है।

नि:सन्देह विदेशी निवेश, विकास व रोजगार को बढ़ाने में अत्यन्त सहायक है, लेकिन 'प्रगति प्रतीकों की हकीकत' आलेख में अत्यन्त महत्वपूर्ण नज़रिया रखा गया जो विदेशी निवेश के साथ-साथ प्रवासियों द्वारा भेजी गई रेमीटेन्स व घरेलू आर्थिक बचत की महत्ता को राष्ट्र की प्रगति में स्थापित करता है।

विशेष आलेख 'अप्रासंगिक कानून - अनिवासी भारतीयों की कशमकश' ने भावनात्मक रूप से स्पर्श किया जिसमें प्रवासियों की नागरिकता से लेकर घरेलू समस्याओं की तरफ ध्यान आकर्षित किया गया।

पुष्पा गहलोत
जोधपुर (राजस्थान)

नाम बदलने से क्या बदलेगा?

दिसम्बर 2014 का 'योजना' अंक पढ़ा। जो कि 'प्रत्यक्ष विदेशी निवेश एवं अंतर्राष्ट्रीय व्यापार' पर केन्द्रित था। इस अंक में 'भारतीय कारोबारी क्यों जाते हैं परदेश', 'विदेशी निवेश से ज्यादा जरूरी सही आर्थिक नीतियां', 'भारतीय राज्यों में विदेशी निवेश प्रवाह में क्षेत्रगत असमानता', 'घरेलू बचत को बढ़ावा जरूरी', 'प्रगति प्रतीकों की हकीकत', 'भारत में विदेशी निवेश : अतीत और वर्तमान' और 'डब्ल्यूटीओ में भारत को मिली बड़ी सफलता' आलेख काफी अच्छे लगे।

भारत सरकार ने योजना आयोग को बन्द करके उसकी जगह नई संस्था बनाने की बात कही है और इस दिशा में भारत सरकार द्वारा कदम भी उठा लिया गया है, सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों की मीटिंग बुलाकर, सभी राज्यों के लिए योजना बनाने के लिए उन्हें साथ लेकर चलने का कदम तो सही है। ये बात भी सही है, कि सभी राज्यों की जरूरतों के हिसाब से योजनाएं बनाई जाएं लेकिन 'योजना आयोग' को बन्द करके नई संस्था बनाना ठीक नहीं है। अगर बदलाव करना ही था तो 'योजना आयोग' को यथास्थिति रखते हुए उसके अन्दर ही जरूरी सुधार किये जाते तो ज्यादा अच्छा होता। जो काम नई संस्था बनाकर किया जा सकता है, वो ही काम 'योजना आयोग' द्वारा क्यों नहीं किया जा सकता?

महेन्द्र प्रताप सिंह
मेहरागांव, अल्मोड़ा, उत्तराखंड

'योजना' का जबाव नहीं

आज की गलाकाट व्यवसायिक प्रतिस्पर्धा और मंहगाई के इस दौर में मामूली कीमत पर ज्ञान से परिपूर्ण योजना उपलब्ध कराने के लिए धन्यवाद। विधाता इसे बुरी नजर से बचाये।

योजना के प्रत्येक अंक के लेखकों की शैक्षिक व पेशेवर पृष्ठभूमि इतनी शानदार होती है कि यह इनके लेखों में झलकती है। ज्ञान पिपासु के लिए यह किसी अमृत पान से कम नहीं होता। सच तो ये है कि जिसे गंगाजल पीने की आदत लग जाए, उसकी फिर तालाबों के पानी से प्यास बुझती कब। मौजूदा अर्थव्यवस्था की समस्या, एफडीआई और औचित्यपूर्ण पेशेवर व्यवसायिक गतिविधियों का क्षेत्र विषय विशेष तक सीमित होना बेहद चिन्ता का विषय है। इसे और व्यापक करने की आवश्यकता है ताकि क्षेत्रीय सामाजिक आर्थिक असंतुलन को दूर किया जा सके।

वैसे, भूख से बिलबिलाती जनता को अर्थशास्त्र, जीडीपी और ग्रोथ रेट का प्रवचन देना उसके साथ बेईमानी है। जहां तक पानी बहने का सवाल है तो मिसिसीपी, यांझी, डेन्यूब, नील तथा अमेजन में पानी जरूर बहा होगा, लेकिन गंगा का पानी आज भी अटका पड़ा है। अगर गंगा का पानी बहा होता तो, मौर्यकालीन समृद्ध बिहार आज के वैश्विक प्रतिस्पर्धा के एफडीआई युग में सबसे निचले पायदान पर नहीं होता। जेपी आन्दोलन में जातिवाद का विरोध कने वाले आज मण्डल, कमण्डल की बात नहीं करते, जातिवाद को पुन: अंगुली पकड़कर सामाजिक मुख्यधारा में वापस नहीं लाते।

विभाकर झा
नई दिल्ली-92

IAS PCS

भारत के सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक एवं विशेषज्ञ GSI व GS World टीम
अब संगठित एवं उत्तरदायी प्रबंधन के साथ सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी
में प्रतिभागियों का मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए अब एक साथ...

सम्पूर्ण, समर्पित, अनुभवी एवं सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञों की स्थायी टीम...

अशोक सिंह
(Meridian Classes)

मणिकांत सिंह
(The Study)

प्रो. पुष्पेश पंत
(Retd. Prof. JNU)

प्रो. माजिद हुसैन
(Pragati IAS)

आर. कुमार
(Aastha IAS)

अभय कुमार
(Synergy)

दीपक कुमार
(GS World)

राजेश मिश्रा
(Saraswati IAS)

पंकज मिश्रा
(Aastha IAS)

सुबोध मिश्रा
(Aastha IAS)

वी. के. त्रिवेदी
(GS World)

Under the organised management of...

Niraj Singh
Managing Director

Divyasen Singh
Co-ordinator

Delhi Centre

सामान्य अध्ययन नया फाउंडेशन बैच

हिन्दी माध्यम
16 जनवरी
11:30 AM

Eng.Medium
21 January
6:30 PM

- एक ऐसी संस्था जो कक्षा के साथ भी कक्षा के बाद आपके साथ।
- Team GSI एक संतुलित समर्पित एवं एकजुट होकर काम करने में तथा पढ़ाने में विश्वास करने वाली टीम है न कि दिखावे एवं रणनीति में।
- विस्तृत एवं समयबद्ध Course समापन, नियमित जाँच, सफल छात्रों समय समय पर मार्गदर्शन।
- सामान्य अध्ययन मुख्य एवं प्रारम्भिक परीक्षा के लिए उपयोगी अद्यतन प्रिंटेड अध्ययन समग्री तथा समसामयिकी के लिए पत्रिका जो हमारी छात्रों की तैयारी के प्रति गम्भीरता का सूचक है।
- मुख्य एवं प्रारम्भिक परीक्षा में शामिल होने वाले छात्रों के लिए Revision Classes.

Allahabad Centre

सामान्य अध्ययन नया फाउंडेशन बैच

19 जनवरी
2 फरवरी

For Enquiry Allahabad Centre:- Ph:. 08726027579

Regional Centre Experts

राजू सिंह, सुजीत सिंह, निशांत श्रीवास्तव, यशवंत सिंह, इसरार अहमद, गौतम सिंह

Our Programme

1. GS हिन्दी माध्यम, GS English Medium, CSAT हिन्दी/English Med.
2. Class Room Test Series (Hindi/Eng. Pre+Mains) Online Test.
4. पत्राचार कार्यक्रम (Correspondence Course)
5. VSAT Centres:- Gorakhpur, Jaipur, Varanasi, Jaunpur, Patna, Ranchi, Raipur, Barelly. (Operational Soon...)
6. Open Seminar How to Crack IAS Exam Jaipur, Patna
7. साक्षात्कार मार्गदर्शन (Interview Guidance), (इलाहाबाद में मुख्य परीक्षा) परिणाम के तुरंत बाद...

स्थायित्व एवं गुणवत्ता के लिए समर्पित...

GS INSTITUTE G S I and GS World

एक दूसरे की सहयोगी संस्था

Head Office:- 705, IIND FLOOR, MUKHERJEE NAGAR, MAIN ROAD OPP. BATRA CINEMA, DELHI-9

Ph:. 011- 27658013, 7042772062/63, 9868365322

Regional Centres:- Allahabad, Indore, Lucknow (Coming Soon...)

YH - 321/2014

संपादकीय

बुद्ध का निर्वासन

राज्य-व्यवस्था के विभिन्न स्तरों के बीच एक सांगठनिक सिद्धांत के तौर पर संघवाद का विचार बहुत प्राचीन है। ग्रीस के नगर राज्यों में ऐसी ही व्यवस्था थी। छठी शताब्दी ईसा पूर्व उत्तर भारत के लिच्छवि में भी इसी तरह की गणराज्य व्यवस्था का उदाहरण मिलता है। आधुनिक विश्व में यह बड़े देशों जैसे अमेरिका, ब्राजील, मैक्सिको और भारत में सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यवस्था है। वास्तव में यूरोपीय संघ, संघवादी व्यवस्था का ताजा उदाहरण है जो राष्ट्रों की सीमा से ऊपर जाकर लागू किया जा रहा है ताकि आर्थिक स्तर पर इसके बहुत सारे लाभों को हासिल किया जा सके। शायद यह आश्चर्यजनक लग सकता है कि सन् 1990 के बाद से किसी बड़े संघीय ढांचे से अलग होकर या युद्ध या अन्य वजहों से करीब तीन दर्जन देशों का उदय हुआ है। उनमें से बहुत सारे मामलों में संघीय व्यवस्था में आई कमजोरियों ने उन नस्लीय या राष्ट्रीयतावादी विभाजनों को प्रोत्साहित किया जिसकी परिणति आखिरकार उन नए देशों के उदय में हुई।

विद्वानों की राय में अभी पूरी दुनिया में एक 'संघवादी उफान' चल रहा है लेकिन दुनिया में उसका कोई एक-सा मॉडल नहीं है। जहां एक तरफ मांतेस्क्यू ने 'संप्रभु नगर राज्यों द्वारा बनाए गए गणराज्यों के संघ' के बारे में बात की तो वहीं जेम्स मेडिसन जैसे संघवादियों ने एक ऐसे 'संयुक्त गणराज्य' की बात की जिसमें एक 'शक्तिशाली केंद्रीय सरकार हो जो संकीर्ण स्थानीय प्रवृत्तियों' पर नियंत्रण कर सके। भारतीय संविधान के प्रणेता बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर इस बात को मानते थे कि भारत जैसे सांस्कृतिक, नस्लीय और भाषाई रूप से विविध और सतरंगे देश में संघवाद इसका 'मुख्य लक्षण' होना चाहिए, भले ही उसमें केन्द्र सरकार को प्राथमिकता दी गई हो। जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और दूसरे राष्ट्रवादी नेता भी संघवाद के बारे में ऐसी ही राय रखते थे लेकिन गांधी जी की राय इनसे बिलकुल भिन्न थी। वह विकेंद्रीकरण के प्रबल समर्थक और प्रशासन के सबसे निचले स्तर पंचायतों तक शक्तियों के बंटवारे के पक्ष में थे।

संघवाद की भावना को वैश्वीकरण ने भी गहराई से प्रभावित किया है। जैसे-जैसे दुनिया के देश नजदीक आते जा रहे हैं, शक्तिशाली वित्तीय और राजनीतिक इकाइयों का बाहरी प्रभाव राज्यों के क्रियाकलापों की स्वतंत्रता को सीमाबद्ध करने की कोशिश कर रहा है। अक्सर यह सार्वजनिक संस्थाओं की कमजोरी के रूप में सामने आता है। इस प्रक्रिया ने एक 'प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद' को भी जन्म दिया है जहां प्रांतीय सरकारें निवेश को हासिल करने और अपने लाभ के लिए पूंजी और तकनीक हासिल करने के लिए केंद्र के साथ प्रतिस्पर्धा करती हैं। दूसरी तरफ भारत ने सहयोगात्मक संघवाद का रास्ता अपनाया है जिसमें धीरे-धीरे, वित्तीय मामलों में केंद्रीय सरकार अपना नियंत्रण ढीला कर रही है और अपने आपको कुछ खास-खास क्षेत्रों में नीतिगत मुद्दों तक ही सीमित रख रही है। टोकविल की टिप्पणी के आधार पर यह तर्क दिया जा सकता है कि सहयोगात्मक संघवाद, 'राष्ट्रों की विशालता या लघुता में पाए जाने वाले विभिन्न लाभों' को बेहतर तरीके से इस्तेमाल करने का रास्ता हो सकता है।'

यहां यह रेखांकित करना महत्वपूर्ण है कि अपने सही स्वरूप में संघवाद तभी सफल हो सकता है जब लोकतंत्र की आधारशिला व्यापक हो और उसकी जड़ें गहरी हों। जहां तक भारत की बात है तो इसके राजनीतिक और सभ्यतागत पहचान के रूप में उसकी भाषा, संस्कृति, नस्ल और धर्म की विविधता के प्रति एक गहरा सम्मान इस देश की संघीय भावना को पुष्ट कर सकता है और राष्ट्र को मजबूत बना सकता है। यही एक तरीका है जिससे भारत, संघवाद की अपनी महान परंपरा को आगे ले जा सकता है जिसका इतिहास महात्मा बुद्ध के समय तक जाता है।

यहां एक पुरानी कहानी के साथ अपनी बात का समापन करना चाहूंगा। ईसा पूर्व पांचवी सदी में लिच्छवि और शाक्यों के गणराज्यों में संथागार नाम की एक संस्था का अस्तित्व था जिसमें गणराज्य के अहम विषयों जैसे विभिन्न घटकों के बीच विवाद जैसे मुद्दों पर विचार-विमर्श किया जाता था। बीस साल की अवस्था में बुद्ध को शाक्य संथागार में शामिल किया गया। जब वह अट्ठाईस साल के हुए तो शाक्य और कोलिय राज्यों के बीच रोहिणी नदी के जल के बंटवारे को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। शाक्यों का सेनापति उस मुद्दे पर कोलियों से युद्ध तक करने को तैयार था जिसका सिद्धार्थ ने विरोध किया लेकिन मतदान के दौरान सिद्धार्थ के शांति प्रस्ताव को भारी मतों से नकार दिया गया। सिद्धार्थ को निर्वासन झेलना पड़ा। भले ही बुद्ध की उस मतदान में पराजय हो गई हो तथा उन्हें निर्वासन झेलना पड़ा हो लेकिन गणराज्य का विचार और विवाद का अहिंसक तरीके से निपटारा करने का विचार अभी भी बचा हुआ है। विवाद के दौरान राष्ट्रों के पथ-प्रदर्शक के रूप में उस गणतंत्र की भावना अभी भी जीवित है।

और आखिर में योजना के पाठकों से मेरे विदा लेने का वक्त आ गया है जिनके साथ पिछले दो वर्ष विविध विषयों पर विचारों के आदान-प्रदान और अन्वेषण के रहे हैं। निश्चय ही, आगे भी राष्ट्र-निर्माण की इस महान यात्रा में योजना, निरंतर विचारोत्तेजक और प्रासंगिक सामग्रियां प्रस्तुत करती रहेगी। ❑

Career Launcher

सिविल सेवा अभ्यर्थी

Career Launcher News www.careerlauncher.com/civils

सिविल सेवा (प्रारंभिक) परीक्षा, 2015

13* बार आयोजित की जाएगी

यदि आप CL की टेस्ट सीरीज़ में भाग लेते हैं तो यह आपके लिए बिल्कुल सच है। CL से जुड़ने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि आपको हूबहू प्रारंभिक परीक्षा जैसा अनुभव प्राप्त करने के 12 अवसर प्राप्त होंगे जबकि अन्य संस्थान यह अवसर मात्र 2 या 3 बार ही प्रदान करते हैं। CL की टेस्ट सीरीज़ से आप के लिए प्रारंभिक परीक्षा अत्यंत सरल हो जाएगी और आपको ऐसा प्रतीत होगा कि आप 13वाँ मॉक टेस्ट दे रहे हैं। CL की टेस्ट सीरीज़ के अन्य लाभ निम्नलिखित हैं:

	UPSC	CL
1. संपूर्ण भारत में आयोजन	✓	✓
2. 10,000 से अधिक अभ्यर्थी	✓	✓
3. सामान्य अध्ययन प्रश्न पत्र I एवं II एक ही दिन	✓	✓
4. हिंदी एवं अंग्रेज़ी दोनो भाषाओं में प्रश्न पत्र	✓	✓
5. ओएमआर शीट	✓	✓
6. स्कूलों में परीक्षा	✓	✓
7. ऑल इंडिया रैंक	×	✓
8. टेस्ट परिचर्चा	×	✓
9. पर्सनल फीडबैक	×	✓
10. टेस्ट के तुरंत बाद प्रश्न पत्र का हल	×	✓

सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा में CL के अभ्यर्थियों की सफलता की दर 6# गुना अधिक है

30.07%
CL के अभ्यर्थियों की सफलता की दर

4.7%
अन्य अभ्यर्थियों की सफलता की औसत दर

सिविल सेवा (प्रा0) परीक्षा '13 में देश भर के कुल 3,17,962 अभ्यर्थियों में से 14,989 ने सफलता प्राप्त की। सफलता की यह दर लगभग 4.7% है। इसकी तुलना में CL के अभ्यर्थियों की सफलता की दर 30.07% रही जो कि अप्रत्याशित रूप से राष्ट्रीय स्तर पर सफलता की औसत दर से 6 गुने से भी अधिक है।

29 मार्च 2015 से टेस्ट सीरीज़ प्रारंभ
प्रारंभिक एवं प्रधान परीक्षा उत्तीर्ण एवं CL के पूर्व छात्रो के लिए विशेष छूट

₹10,000/- का सीमित ऑफर

1069 CL अभ्यर्थी सिविल सेवा (प्रधान) परीक्षा '14 के लिए योग्य पाये गये

CL | Civil Services Test Prep

www.careerlauncher.com/civils /CLRocks

*CL के 12 मॉक टेस्ट + 1 UPSC की असली सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा

हमारे पास उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर

नए बैच शीघ्र प्रारंभ, विस्तृत जानकारी के लिए कृपया निकटतम् CL केंद्र पर संपर्क करें।

मुखर्जी नगरः 204/216, द्वितीय तल, विराट भवन/एमटीएनएल बिल्डिंग, पोस्ट ऑफिस के सामने, फोन - 41415241/46
ओल्ड राजेन्द्र नगरः 18/1, प्रथम तल, अग्रवाल स्वीट्स के सामने, फोन - 42375128/29
बेर सरायः 61बी, ओल्ड जे. एन. यू. कैम्पस के सामने, जवाहर बुक डिपो के पीछे, फोन - 26566616/17
ग़ाज़ियाबादः सी-27, द्वितीय तल, आरडीसी मार्केट, राज नगर, (बीकानेर स्वीट्स के सामने) फोन - 0120-4380996
इलाहाबादः 19 बी/49, भूतल, कमला नेहरू मार्ग, यूनिवर्सिटी स्टेडियम गेट के सामने, मनमोहन पार्क चौराहा, फोन - (0)9956130010

"CL Educate Limited is proposing, subject to receipt of requisite approvals, market conditions and other considerations, an initial public offering of its equity shares and has filed a Draft Red Herring Prospectus with the Securities and Exchange Board of India ("SEBI"). The Draft Red Herring Prospectus is available on the website of the SEBI at www.sebi.gov.in and the website of Kotak Mahindra Capital Company Limited at www.investmentbank.kotak.com.

Investors should note that investment in equity shares involves a high degree of risk and for details refer to the Draft Red Herring Prospectus, including the section titled "Risk Factors".

YH - 322/2014

वित्तीय संघवाद व स्थानीय शासन

एम ए उम्मन

स्थानीय सरकार अब भारत का एक अटूट हिस्सा है। इसमें नीचे से ऊपर के नियोजन की ज़बरदस्त क्षमता है। नीतिगत विकल्पों और बढ़ावा देने वाले सहायक उपायों के माध्यम से ही उन्हें जीवंत या व्यावहारिक बनाने के लक्ष्य को पाया जा सकता है। यह एक लोकतांत्रिक सरकार पर निर्भर करता है कि वो इसे एक सही दिशा दे। सामाजिक समावेशन तभी हासिल किया जा सकता है जब हाशिये पर धकेले गए तथा वंचितों को उनकी अपनी शर्तों पर शामिल किया जाता है। यही धर्म भी है। उस लक्ष्य को पाने के लिए स्थानीय सरकारों को ताक़तवर बनाना एक अनिवार्य शर्त है

संघीय व्यवस्था सरकार की बहुस्तरीय प्रणाली का द्योतक है। वित्तीय संघवाद संघीय ढांचे के भीतर व्यय की ज़िम्मेदारियों के विभाजन, राजकोषीय कार्यों, अंतर-सरकारी हस्तांतरण की व्यवस्था और राजकोषीय संबंधों से निपटता है। किसी भी अच्छी राजकोषीय संघीय व्यवस्था का लक्ष्य प्रभावशाली, कुशल तथा संसाधनों का न्यायपूर्ण आवंटन करना एवं सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच जिम्मेदारियां तथा एक स्थिर संघीय प्रणाली की दिशा में कार्य करना है। शुरुआत में भारतीय महासंघ संघ और राज्यों को मिलाकर एक दोहरी व्यवस्था थी। 73वें/74वें संविधान संशोधनों ने पंचायती राज संस्थाओं के लिए एक तीन स्तरीय प्रणाली के साथ सरकार की एक तिहरी परत बनाते हुए संविधान में भाग IX तथा भाग IXA को जोड़ दिया। इसने वस्तुत: एक बहुस्तरीय सार्वजनिक वित्त के साथ भारतीय महासंघ को एक बहुस्तरीय संघीय प्रणाली में बदल दिया। इन संशोधनों को पारित हुए बीस साल बीत चुके हैं और इससे संबंधित अनुपूरक क़ानून सभी राज्यों द्वारा 1994 में अधिनियमित किए जा चुके हैं। वास्तव में अत्याधुनिक स्तर पर स्थानीय लोकतांत्रिक प्रशासन की ओर से लोगों की भागीदारी के लिए लोकतांत्रिक जगह बनाते हुए वित्तीय विकेन्द्रीकरण की ओर यह एक बड़ा प्रयास था। वित्तीय विकेन्द्रीकरण सही मायने में स्थानीय सरकारों का वित्तीय सशक्तीकरण है। इसका जवाब पाने के लिए महत्वपूर्ण सवाल जो उठता है, वह यह है : क्या अनुच्छेद 243 जी तथा 243 डब्ल्यू में उद्धृत अनिवार्य रूप से आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय देने वाले महत्वपूर्ण कार्य स्व-शासन से संपन्न संस्थाओं के रूप में इन स्थानीय सरकारों के पास हैं। अब जब कि एक गैर-संवैधानिक संस्था *योजना आयोग* समाप्त की जा चुकी है तथा नीति (बदलते भारत के लिए राष्ट्रीय संस्थान) आयोग नामक एक नई संस्था 1 जनवरी 2015 से योजना आयोग का स्थान ले चुकी है तो तत्काल यह सवाल उठता है कि क्या आप अनुच्छेद 243 (ज़ेडडी) के अनुसार सृजित ज़िला योजना समिति नामक संवैधानिक संस्था के लिए किसी नयी भूमिका की परिकल्पना कर रहे हैं या फिर उसे नये रूप में लाने की सोच रहे हैं? क्या हस्तांतरण व्यवस्था को युक्तिसंगत बनाने के लिए सुधार की ज़रूरत है? इस तरह के वित्तीय संघवाद के अनेक मुद्दों से रू-ब-रू स्थानीय सरकारों को बदलने या उस पर नज़दीक से नज़र रखने की ज़रूरत है। इस आलेख में इन्हीं कुछ मुद्दों को उठाने की कोशिश की गई है। ग़लत उत्तर देने से ज्यादा महत्वपूर्ण सही सवाल उठाना है।

भारत के सहकारी संघवाद जिसके प्रति नई सरकार ने अपने विश्वास की पुष्टि की है और प्रतिबद्धता जतायी है, दुनिया के महासंघों के बीच उसका कोई सानी नहीं है। उदाहरण के लिए यह जर्मनी या दक्षिण अफ्रीका के समान नहीं दिखता, जहां की संघीय सरकारें बड़ी नीतियों का निर्धारण करती हैं तथा जहां कार्यान्वयन एजेंसियों के तौर पर विभिन्न स्तरों पर सरकारें कार्य करती हैं। यह ब्राजीली प्रारूप से भी भिन्न है, जहां सरकार की सभी त्रिस्तरीय प्रणालियां स्वायत्तता एवं हैसियत का इस्तेमाल करती हैं और क्षैतिज एवं ऊर्ध्व रूप से अपनी नीतियों का समन्वय करती हैं। भारत को सहकारी संघवाद का मार्बल-केक मॉडल (संघवाद का एक रूप जिसमें शक्ति, संसाधन और कार्यक्रम का मिश्रण राष्ट्रीय, राज्य तथा स्थानीय स्तर के प्रशासन के बीच बंटा होता है) भी नहीं कहा जा सकता है, जहां सरकार के विभिन्न स्तर

लेखक सेंटर फॉर डेवलपमेंट स्टडीज में मानद प्राध्यापक हैं। पूर्व में वह केरल सरकार के चौथे राज्य वित्त आयोग के अध्यक्ष रहे। वह रॉकफेलर फाउंडेशन के पोस्ट डॉक्टरल स्कॉलर तथा येल विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक और सीनियर फुलब्राइट फैलो हैं। वह देश-विदेश के कई आयोगों व समितियों में सेवाएं दे चुके हैं। ईमेल: maoommen09@gmail.com

आपस में भागीदारी करते हैं तथा अतिव्यापी ज़िम्मेदारियां निभाते हैं और बराबर के भागीदार के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। भारत में सरकार के विभिन्न स्तर बराबर के भागीदार नहीं माने जाते हैं। वस्तुतः भारतीय संघ स्थानीय सरकार के स्तर पर तथा राज्य सरकार के स्तर पर संसाधनों एवं ज़िम्मेदारियों को लेकर बहुत ज्यादा प्रत्यक्ष असंतुलन के साथ पक्षपातपूर्ण रूप से संघ के पक्ष में है। यह समस्या संघ (केन्द्र एवं राज्यों के अलावा नगरपालिकाओं तथा निगमों के साथ पंचायती राज संस्थाएं भी शामिल हैं) के बहु-स्तरीय चरित्र को लेकर बड़े पैमाने पर हैरान करने वाली तथा विविध लक्ष्यों की पूर्ति करने वाली स्थानांतरण व्यवस्था की मौजूदा बहुप्रणाली की है।

अधीनस्थता का सिद्धांत तथा भारत का सहकारी संघवाद

व्यावहारिक तथा जीवंत वित्तीय संघवाद को आकार देने के लिए एक महत्वपूर्ण और ज़रूरी शर्त है कि सरकार के विभिन्न स्तरों के बीच कार्यों के श्रम का एक प्रभाग हो, उनकी ज़िम्मेदारियां हों और उनकी विनियामक भूमिका हो। मगर यह दो सवालों से और भी स्पष्ट हो जाता है: पहला सवाल कि किसे और क्या करना चाहिए? दूसरा सवाल कि किसे कहां और क्या कर लगाना चाहिए? पीछे की तरफ़ नज़र दौड़ाने पर यह साफ़ हो जाता है कि भारत ने न तो कभी ये सवाल उठाये और न ही उन सवालों का संतोषजनक उत्तर मिला। व्यय दायित्वों के विभाजन, राजस्व जुटाने वाले कार्यों तथा विनियामक को निर्देशित करने वाले एक सरल लेकिन अत्यंत प्रासंगिक सिद्धांत अधीनस्थता के सिद्धांत का अनुसरण करना है, जिसके मुताबिक़ एक ख़ास स्तर पर जो कुछ भी सबसे अच्छा किया जा सकता है (निश्चित रूप से न्यूनतम लेन-देन और समन्वय की लागत के साथ), उसे उस स्तर पर किया जाना चाहिए, न कि उसे उच्च स्तर पर किया जाए। दूसरे शब्दों में सरकार के प्रत्येक उच्चतर स्तर पर किसी कार्य को देने के लिए एक विश्वसनीय प्रकरण बनाया जाना होगा। हालांकि कई लोग अतीत की पंचायतों की याद दिलाते हैं, जिसकी पुरातनता वैदिक युग से जुड़ी है लेकिन अंग्रेज़ों के अधीन वह औपनिवेशिक सरकार ही थी, जिसने स्थानीय स्तर पर 'छोटे गणराज्यों' का सृजन किया और जिसने उन गणराज्यों की संस्थाओं को स्वशासन से लैस करने का साहस दिखाया। 1935 का भारत सरकार अधिनियम तथा प्रांतीय स्वायत्तता की शुरुआत ने नगरपालिका तथा ग्रामीण पंचायत स्तर पर लोकतांत्रीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए कई क़दमों के सृजन का नेतृत्व किया। हम सभी जानते हैं कि ग्रामीण पंचायत भारत के स्वतंत्रता संग्राम का वैचारिक आधार केन्द्र थी तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भविष्य के भारत के लिए ग्राम स्वराज को सामाजिक जीवन के केन्द्र के रूप में घोषित किया। फिर भी, भारतीय संविधान में ग्राम पंचायत का उल्लेख केवल अनुच्छेद 40 के अंतर्गत किया गया, और वह इतना ही है कि नीति निर्देशक तत्व के रूप में 'स्वशासन की इकाइयों' को बनाने का प्रावधान किया गया और यही कारण है कि इसे संविधान का क़ानूनी तौर पर बाध्यकारी भाग नहीं बनाया गया। यहां तक कि संविधान 1884 के लॉर्ड रिपन के संकल्प में परिकल्पित स्थानीय स्व-शासन-सरकार की धारणा को भी स्वीकार नहीं करता है। यह काम 73वें/74वें संविधान संशोधन के भरोसे छोड़ दिया गया ताकि ऐतिहासिक भूल को सुधारा जा सके और स्थानीय सरकारों को संवैधानिक हैसियत दी जा सके।

भारतीय संविधान में संघ तथा राज्यों के कार्यात्मक और करों की गतिविधियां केन्द्रीय सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची नामक तीन अलग-अलग सूचियों (अनुसूची सातवीं के तहत) के अंतर्गत दी गई हैं। समवर्ती सूची में दोनों स्तरों पर संयुक्त न्यायाधिकार क्षेत्र है। मोटे तौर पर भारत सरकार अधिनियम, 1935 का अनुसरण करते हुए संविधान निर्माताओं ने अधीनस्थता के सिद्धांत को लागू करने के बजाय तदर्थ ऐतिहासिक व्यवस्था को लागू किया। संविधान के 73वें/74वें संशोधन ने भारत में ज्यादा तार्किक सार्वजनिक वित्त शासन के सृजन तथा उनके कार्यों एवं तीनों स्तर के वित्तीय प्रक्षेत्रों के पुनर्परीक्षण का अवसर दिया। इसके बावजूद दो संशोधनों के ज़रिये और दो सूची जोड़ी गयीं। अनुच्छेद XI पंतायती राज के लिए और अनुच्छेद XII शहरी स्थानीय सरकारों के लिए। इन दो अनुच्छेदों के अंतर्गत दिये गए विषयों को राज्य सूची से चुना जाता है और समवर्ती सूची स्थानीय सरकार के प्रक्षेत्र को सभी के लिए ख़ुशफ़हमी रचने वाली है। स्थानीय सरकारों का वित्तीय स्थान भी अस्पष्ट रूप से पारिभाषित छोड़ दिया गया। केरल सरकार, जिसने संचालन की कठिनाइयों को महसूस करते हुए 73वें/74वें संशोधनों को अपेक्षाकृत गंभीरत से लिया और अनुसूची XI तथा XII के अन्तर्गत दिये गए विषयों को गतिविधियों तथा उपगतिविधियों में विसमूहित करने का प्रयास किया तथा एक अन्यथा बेढब एवं अतिव्यापी स्थिति में निभायी जाने वाली भूमिका में स्पष्टता लाने की कोशिश की। हालांकि बाद के दिनों में 2004 में आकर पंचायती राज मंत्रालय की स्थापना हुई, कमियों को महसूस किया गया और राज्यस्तर पर गतिविधि मानचित्रण के संचलन की शुरुआत हुई। देर आए दुरुस्त आए। जबतक कार्यों, कोष तथा पदाधिकारियों की गतिविधि व्यवस्थित नहीं होती, तब तक विकेन्द्रीकरण की हक़ीक़त ज़मीन पर नहीं उतरेगी।

इस भाग में, मैं अन्य अपरिभाषित क्षेत्र के बारे में भी इशारे करूंगा। निश्चित रूप से लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के पक्ष में जो कुछ है, उसके ख़िलाफ़ कभी कभी कुछ अड़चनें भी आयी हैं। यह राज्य सूची में मद संख्या 5 है, जो इस तरह व्याख्या करती है: स्थानीय सरकार अर्थात स्थानीय-स्व-शासन या ग्रामीण प्रशासन के उद्देश्य के लिए संविधान एवं नरपालिकाओं की शक्तियां, बेहतर विश्वास, जिला बोर्ड, खनन निपटान अधिकारियों एवं अन्य स्थानीय प्राधिकारी वर्ग [भारतीय संविधान, अनुसूची 7, सूची II-राज्य सूची]

सुशासन (जो अंततः तर्कसंगत शासन है) का वादा करने वाली नौजूदा भारत सरकार को इस मद या विषय को ख़त्म करना होगा तथा गतिविधियों तथा उपगतिविधियों की रूपरेखा वाली एक नयी स्थानीय सूची पर काम करना होगा, जो अनुच्छेद XI और XII को उसमें से निरस्त करेगा ।

संघीय ढांचे में नीति आयोग: उठते मुद्दे

यह मानना महत्वपूर्ण है कि भूतपूर्व योजना आयोग हालांकि महत्वपूर्ण नीतिगत सलाह उपलब्ध कराने के लिए बिना किसी विषय विशेषज्ञता के साथ विशालकाय ढांचे में विकसित हुआ और जिसने कुछ महत्वपूर्ण संदर्भ में राष्ट्र सेवा भी की। किसी भी सुधारात्मक या पुनर्संरचनात्मक कोशिश की शुरुआत वहीं से करनी होगी। उसी ने पहली बार विस्तृत समीक्षा और अध्ययन पर आधारित आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय रूपरेखा की रचना की है एवं राष्ट्र तथा उसकी अर्थव्यवस्था के लिए रणनीति तथा वृहत आर्थिक लक्ष्यों की आधारशिला रखी। भविष्य में नीति आयोग और नई व्यवस्था द्वारा इन प्रयासों को किस तरह से जारी रखा जायेगा, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

दूसरा प्रश्न कि भारतीय संविधान पर आधारित संघीय गणतंत्र की लगभग शुरुआत से ही संसाधन आवंटन कार्य के साथ अन्य बातों के अलावा योजना आयोग की भी शुरुआत हो गई। केन्द्र तथा राज्यों के राजस्व एवं व्यय ज़िम्मेदारियों में सीधे सीधे असंतुलन के कारण

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 380 के मुताबिक़ केन्द्रीय वित्त आयोग का गठन आवश्यक था। कोई शक नहीं कि इससे संसाधन अंशदान (वित्तीय, भौतिक तथा प्राकृतिक), हासिल होने वाले विकास, पिछड़ापन, पर्यावरणीय असंतुलन आदि में बड़ी असामनता वाले इस गहराई पूर्ण विविध उपसामग्री में क्षैतिज असंतुलन को संशोधित किये जाने पर बल दिया गया।

योजना आयोग ने अनुच्छेद 282 के विविध प्रावधानों से अपने आवंटन कार्यों की शक्ति हासिल की। अवशिष्ट प्रावधान का मतलब असामान्य परिस्थितियों में लोक उद्देश्यों के लिए अनुदान सुविधाओं का देना था। निश्चित रूप से यह संवैधानिक रूप से एक स्पष्ट कार्रवाई नहीं थी। मूल रूप से योजनाबद्ध तरीक़े से शुरू हुए स्थानांतरण को 1969 के बाद सूत्र-आधारित संसाधन आवंटन बना दिया गया। यह सूत्र उस समय के उपाध्यक्ष डी.आर. गाडगिल के नाम पर शुरू हुआ। हालांकि इसमें कई बार सुधार हुआ तथा राज्यों के प्रबल विरोध के बावजूद इस सूत्र को क़ायम रखा गया। संविधान संशोधन 73 तथा 74 का अनुसरण करते हुए अनुच्छेद 243 आई तथा 243 वाई जोड़ा गया तथा इसने राज्य एवं उप-राज्य-स्तर पर ऊर्ध्व तथा क्षैतिज असंतुलन में सुधार करने के लिए संघीय वित्त आयोग से ठीक मिलते जुलते राज्य वित्त आयोग की गुंज़ाइश बनायी। यह रेखांकित करना महत्वपूर्ण है कि 73वें तथा 74वें संविधान संशोधन ने अचुच्छेद 280 में संशोधन किया ताकि राज्य वित्त आयोग की अनुशंसा के आधार पर पंचायतों एवं नगरपालिकाओं के संसाधानों को पूरकता प्रदान करने वाले संघीय वित्त आयोग को सुविधाजनक बनाया जाए। भारतीय राजकोषीय संघवाद में जैविक जुड़ाव बहुत स्पष्ट है तथा कोई भी पुनर्संरचना इसकी अवहेलना नहीं करती है। तीसरी बात कि योजना आयोग परियोजना विकास तथा वृहत नीति निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। अगर नीति आयोग इकलौता थिंक टैंक होने जा रहा है, तो इसे चर्चा और गुणवत्तापूर्ण शोध पर अच्छा ख़ासा ज़ोर देना होगा।

ऊर्ध्वमुखी योजना की ओर

अभी तक नीति आयोग की रूपरेखा बतायी नहीं गयी है, लेकिन इस बात का पर्याप्त इशारा है कि नई व्यवस्था भारत में नीचे से ऊपर तक की योजना की ज़रूरत को स्वीकार करती है। यह उद्धृत करना महत्वपूर्ण है कि अनुच्छेद 243 जी, 243 डब्ल्यू तथा 243 ज़ेडडी एवं 243 ज़ेडई आवश्यक रूप से नीचे से ऊपर तक की योजना की ज़रूरत पर बल देते हैं। वहीं 243 जी तथा 243 डब्ल्यू के प्रावधानों के मुताबिक़ ग्रामीण तथा शहरी स्थानीय सरकारों को इस तरह की शक्तियों, अधिकारों तथा ज़िम्मेदारियों से लैस करना होगा कि स्व-शासन की संस्थाओं के रूप में वो कार्य कर सकें तथा आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के साथ साथ प्रस्तावित कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए भी आवश्यक है।

अनुच्छेद 243 ज़ेड सभी राज्यों को निर्देश देता है कि वो ज़िला योजना समिति तथा बड़े शहरी क्षेत्रों के लिए महानगर योजना समिति (243 ज़ेडई) की स्थापना करें। ज़िला योजना समिति का काम है कि पंचायती राज तथा ज़िले में नगरपालिकाओं द्वारा तैयार की गई योजनाओं को समेकित करे एवं ज़िलों के लिए समग्र रूप से विकास का खाका तैयार करे एवं उनसे उम्मीद की जाती है कि वो प्रारूपित योजना के मुताबिक़ एकीकृत स्थानिक योजना को लागू करें एवं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की कोशिश करें। एक मसौदा होने के नाते प्रक्रियात्मक तथा तैयार संस्थागत उपायों द्वारा स्थानीय सरकारों के स्तरों तथा राज्य के स्तर पर समुचित नीति विकल्पों के माध्यम से संचालन वैधता को अब भी सुनिश्चित किया जाना है।

2.5 लाख पंचायती राज तथा 3842 नगरीय स्थानीय सरकारें हैं, जिनमें तीस लाख जन प्रतिनिधि हैं। कोई शक नहीं कि यह एक अद्भुत लोकतांत्रिक आधार है, जो विश्व में किसी भी अन्य देश के पास नहीं है। सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में नीचे से ऊपर तक की योजना वाले इस प्रगति के प्रदर्शन के लिए एक अद्वितीय अवसर को लेकर एक बड़ी संभावना है और इसे राष्ट्रीय लक्ष्य की तरह आगे रखा जाना चाहिए। नीचे से ऊपर के विकास की योजना वाले इस देश में ग्रामसभा, ज़िला योजना समिति, राज्य वित्त आयोग तथा लोगों की भागीदारी के लिए अन्य रास्तों को भी एक सोद्देश्य दिशा की ओर दिये गए ढांचे को अनुप्राणित करने के तौर पर देखा जाना चाहिए। केरल में यह स्पष्ट दिखता है कि अगर राजनीतिक इच्छा शक्ति हो तो स्थानीय स्व-शासन की राह आसान होती है। लोगों की भागीदारी को सूचीबद्ध करने के लिए उन्हें नीचे से ऊपर तक की गति वाली योजना को लेकर जागरूक करने के लिए केरल में अभियान शुरू किया गया लेकिन बाद में सामानांतर रूप से काम करने वाले एक विशेषज्ञ निकाय यानी सेन समिति की सिफ़ारिश के आधार पर इस कार्य को संस्थागत किया गया।

केरल ने ग्राम सभा स्तर पर अनुभवजन्य ज़रूरतों की पहचान की तथा उसका मूल्यांकन किया और ज़िला योजना समिति द्वारा अंतिम रूप से स्वीकार किये जाने के बाद भागीदारी वाली इस योजना की एक बहुस्तरीय प्रक्रिया का विकास किया, उन तमाम ग्राम पंचायत तथा नगरपालिकाओं ने अपनी अपनी विकास योजनाएं तैयार की, जो कि कोई मामूली उपलब्धि नहीं थी। प्रत्येक क्षेत्र की संसाधन सूची तथा लंबी अवधि के विकास लक्ष्यों वाली इस विकास रिपोर्ट पर चर्चा की गई और इसे विकास सेमिनार के नाम से जाना गया। उन्होंने क्षेत्रीय कार्यबलों (इसके बाद उन कार्यसमूहों का नामाकरण किया, लगभग प्रत्येक स्थानीय सरकार में लगभग 10-12 कार्यदल बनाये गए) को संगठित किया। जैसा कि दो विद्वानों ने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि इनका मुख्य उद्देश्य ग्राम सभा तथा नगरपालिकाओं में विकास सेमिनार का आयोजन करना और विकास रिपोर्ट पर चर्चा करना था ताकि ग्राम सभाओं में शुरू किया गया वार्ड वार विकास संवाद गांव [आइजैक एवं फ्रैंक (2000):105] के उच्च स्तर तक बढ़ाया जा सके। इस लोक कार्यक्रम अभियान प्रारूप के अंतर्गत लगभग पांच लाख लोग, राजनीतिक नेतृत्व, लोकसेवक, स्थानीय विशेषज्ञ तथा इसी तरह के और भी लोगों ने ग्राम सभा में आयोजित होने वाले विकास सेमिनार व राज्य योजना बोर्ड (2000) (देखें, आर्थिक समीक्षा) में भागीदारी की। इस सेमिनार से एक विकेन्द्रीकृत खांचे में समस्या समाधान तथा भागीदारी पहल पर विचार विमर्श करने की संभावना की जांच-परख हुई।

निस्संदेह इसका मतलब यह नहीं है कि सभी विकास सेमिनार समान रूप से सफल हैं तथा विकेन्द्रीकृत नियोजन परियोजना में कमियां नहीं है। फिर भी यह पूरी तरह संस्थागत है तथा यह अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है। नियोजन अभियान प्रारूप के शुरुआती दिनों में राज्य नियोजन बोर्ड ने मलयालम भाषा में विस्तृत नियमावली जारी की थी तथा लोगों के लिए नियोजन परियोजना तैयार करने की ख़ातिर लोगों की सहायता भी की। केरल सरकार (2009) के पास जिला योजना कार्यप्रणाली पर एक अध्याय है तथा इसके साथ ही नई सरकार के लिए सफल कोल्लम ज़िला योजना दस्तावेज़ भी जारी किया गया ताकि अगर आने वाली सरकार नीचे से ऊपर तक के विकास को प्राथमिकता देती है, तो वो इस पर कार्य कर सके। सचमुच डीएफ़डआईडी की मदद से चयनित ग्राम पंचायतों में 2007-07 में इसी तरह की नीचे से ऊपर तक जाने वाली

योजना की शुरुआत पश्चिम बंगाल सरकार ने भी की।

पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय सरकारों द्वारा 'आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय' के लिए योजना बनाने के जनादेश को लागू करने के संवैधानिक काम को लेकर अलग से ज़ोर देने की ज़रूरत है। इस तरह का नियोजन एक समग्र अवधारणा है तथा विभाग स्तर अवधारणा और उसका कार्यान्वयन इसके लिए एक सही दृष्टिकोण नहीं होगा। निश्चित रूप से क्षेत्रवाद भारत के लिए अभिशाप रहा है। नीचे से ऊपर तक वाले इस नियोजन को भले ही प्रभावशाली तरीक़े से अंजाम दिया जा सकता है लेकिन इसका मतलब तब तक नहीं होगा जब तक कि पंचायतों के पास निस्तारण के लिए सिर्फ़ योजनाबद्ध कोष हों। पश्चिम बंगाल तथा केरल में हुए ज्यादा बेहतर विकेन्द्रीकरण की ओर नज़र डालें, जो योजनाबद्ध स्थानांतरणों पर बनाये जाते हैं, तो स्थानीय सरकारों के पास योजना बनाने तथा प्राथमिकता तय करने की आज़ादी के साथ उम्मीद के मुताबिक़ एक मुक्त कोष होना चाहिए था।

नीति आयोग तात्कालिक रूप से देशव्यापी स्टेटस रिपोर्ट अध्ययन कर सकता है, 2008 में एकीकृत योजना के लिए तैयार पुस्तिका के साथ साथ योजना आयोग के प्रयासों पर चर्चा करवा सकता है और इसके बाद कार्य की रूपरेखा की तैयारी पर भी काम कर सकता है, जो स्थानीय भिन्नताओं को समायोजित कर सके। अगर सही मायने में सभी 640 ज़िले दीर्घकालीन दृष्टिकोण के आधार पर ज़िला योजना तैयार करते हैं तथा उसके आधार पर वार्षिक योजना बनाते हैं तथा मध्यवर्ती लक्ष्य बनाते हैं तो इस तरह के क़दम देश की अनेकता में एकता वाली कहावत को सही मायने में चरितार्थ करते हैं।

अच्छी प्रगति को देखते हुए भारत ने स्थानीय सरकार स्तर के संदर्भ में भू-स्थान, मिट्टी, भूजल, फसलों, नदी बेसिन, वाटरशेड आदि पर भौगोलिक सूचना आधारित आंकड़ों का निर्माण किया है, वैज्ञानिक स्थानीय नियोजन कोई मन का लड्डू भर नहीं है। अगर जनसंख्या के साथ पूरक व्यवस्था है और संभवत: एक साधारण घरेलू सामाजिक आर्थिक आंकड़े (तदर्थ सर्वेक्षण करने के लिए स्थानीय विद्यालय के शिक्षकों का इस्तेमाल किया जा सकता है), घरेलू स्तर की जानकारियां या सूचनाएं तैयार की जा सकती हैं तो उपलब्ध जानकारियां नीचे से योजना के लिए सहारे का काम कर सकती हैं। वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या ज़िला नियोजन समितियां उप-राज्य स्तर पर आर्थिक विकास तथा सामाजिक न्याय दिलाने के लिहाज़ से देश भर में राजनीतिक रूप से, क़ानूनी रूप से तथा प्रौद्योगिक रूप से सशक्त हैं। नीति आयोग इस मुद्दे पर अपनी समझ का अच्छा इस्तेमाल कर सकता है।

स्थानांतरण व्यवस्था का युक्तिकरण

वित्तीय कार्यों तथा स्थानांतरण व्यवस्था को युक्तिपूर्ण, कुशल तथा न्यायसंगत आधार पर रखना एक अच्छी सहकारी संघीय व्यवस्था के लिए अत्यंत आवश्यक है। विविध उद्देश्य और शर्तों के साथ प्रवाह की बहुलता भारतीय वित्तीय संघवाद की दुखती रग रहे हैं। ऐसी स्थिति परस्पर विरोधी प्राथमिकताओं तथा विकृत परिणामों के साथ मिली हुई है। योजना आयोग के आवंटन कार्यों का ख़ात्मा समस्या का समाधान नहीं है। सकल बजटीय समर्थन के एक प्रतिशत के रूप में केन्द्र प्रायोजित कार्यक्रमों में हिस्सेदारी लगातार बढ़ती रही है। हालांकि बी.के. चतुर्वेदी समिति (2011) की अनुसंशा के बाद उनकी संख्या घटा दी गई है, लेकिन जिसकी मज़बूत उपस्थिति आज भी क़ायम है। देश में ज्यादा से ज्यादा न्यायसंगत एवं युक्तिसंगत स्थानांतरण प्रणाली की स्थापना में किस तरह उन्हें शामिल किया जा रहा है तथा जीवंत स्थानांतरण व्यवस्था का हिस्सा उन्हें कैसे बनाया जाता है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। सीएसएस लागू करने में राज्यों द्वारा समकक्ष धन को व्यवहार में लाने की कोशिश उनकी प्राथमिकताओं में एक खतरनाक विकृति बन गयी है। इसके अलावा उच्च स्वास्थ्य, शैक्षणिक तथा सामाजिक उपलब्धियों के साथ केरल और अखिल भारतीय शर्तों के सीधे खांचे में आते झारखंड या ओड़िशा जैसे पिछड़े राज्य एवं योजनाओं के सभी एकतरफा घोषणा (इस तरह की सभी घोषणाएं सहकारी संघवाद पर एक हमला है) से ऊपर तथा राज्यों पर उन्हें थोपा जाना वो तमाम समस्याएं हैं, जिन्हें हल किया जाना अब भी बाक़ी है।

भारत विश्व का वित्तीय रूप से सबसे केन्द्रीकृत देश है। यहां तक कि साम्यवादी चीन की भी एकात्मक सरकार भारत की तुलना में कहीं अधिक विकेन्द्रीकृत है। स्थानांतरण की व्यवस्था की ऐतिहासिक विरासत को देखते हुए क्या इस देश के उत्तरोत्तर ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज असंतुलन को कम करने का बोझ अकेले केंद्रीय वित्त आयोग के कंधों पर डाला जा सकता है? किसी भी क़ीमत पर नए सिरे से जांच करने की ज़रूरत है चाहे इन वर्षों में भारत विकास अभिमुख हो रहा हो या विकास विमुख रहा हो। यह नीति आयोग के नये उपाध्यक्ष, अरविन्द पनगढ़िया पर निर्भर करता है कि वो इस पर अध्ययन के लिए एक आयोग का गठन करें। वास्तव में थिंक टैंक धारणाओं या मान्यताओं पर काम नहीं कर सकता है। आज़ादी के 68 साल के बाद भी इस देश के प्रधानमंत्री को स्वच्छ भारत अभियान के भागीदार के रूप में गलियों को साफ़ करने के लिए हाथ में झाड़ू थामना पड़ता है। किसकी प्राथमिकताओं ने इस देश के भाग्य पर शासन किया, यह एक पेंचीदा सवाल है, जिसकी जांच-पड़ताल की सख्त ज़रूरत है। पंचायतों (वस्तुत: उन्हें स्मार्ट बनाना) को मज़बूत बनाना प्राथमिक औचित्य है और इसके अलावा 73वें तथा 74वें संविधान संशोधनों का अक्षरश: पालन करना भी आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक की अपनी पसंद के निवास का ख्याल किये बिना उन्हें स्वच्छता, पेयजल, आवास, बिजली, कनेक्टिविटी (सड़क और इंटरनेट दोनों) की बुनियादी सुविधाएं मुहैया करायी जानी चाहिए थीं तथा अन्य जनसेवाओं पर भी तत्काल ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। उनके अपने स्रोत कोषों को गतिशील करने के लिए स्थानीय सरकार को प्रोत्साहित करना महत्वपूर्ण है। पंजाब, राजस्थान तथा हरियाणा ने संपत्ति कर को समाप्त कर दिया, यह संपत्ति कर विश्व के 80 प्रतिशत देशों में स्थानीय सरकारों का मुख्य स्रोत है तथा कई अन्य प्रतिगामी कार्रवाई भी गंभीर चिंता के विषय हैं। यद्यपि यह एक हस्तांतरण प्रणाली की दिशा में काम करने के लिए भी उतना ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे सभी नागरिकों, दूर दराज़ में रहने वाले आदिवासियों के साथ-साथ निस्संदेह तुलनात्मक रूप से बेहतर स्थिति में रहने वाले दिल्ली के नागरिकों के लिए भी सार्वजनिक सेवाओं के तुलनीय स्तर की पेशकश करने के लिए स्थानीय सरकारों की राजकोषीय क्षमता में वृद्धि होगी। मगर इस तरह का प्रयास प्रगतिशील तरीक़े से लागू किया जाता है तो 13वें वित्त आयोग की सिफारिशों को एक सामान्य प्रदर्शन अनुदान प्रदान करने के लिए, हालांकि वह बराबरी का अनुदान नहीं है, सही अर्थों में जिस हालात में सामान्य लोग रहते हैं, उनके जीवन को उन्नत बनाने के लिए यह एक अच्छा क़दम था। यही कारण है कि कनाडा और ऑस्ट्रेलिया जैसे महासंघ में क्षैतिज असंतुलन भारत के मुक़ाबले कहीं कम हैं, वहां समतावादी अनुदानों के आधार पर काम होता है, नीति आयोग तथा संघीय वित्त आयोग को इसका ध्यान रखना चाहिए। यह निश्चित रूप से अनुचित है कि आम नागरिकों की

(शेषांश पृष्ठ 44 पर)

भारत में संघीय शासन प्रणाली: एक अवलोकन

पंकज कुमार झा

भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारतीय राष्ट्र व शक्तिशाली संपन्न राज्य के कार्यात्मक उपकरण के रूप में संघवाद को शुमार किया। आज़ादी के बाद के नेताओं के समक्ष बाहरी व आंतरिक सुरक्षा के कवच के रूप में भी भारतीय शासन व्यवस्था में एक मजबूत संघवाद के संस्थानीकरण पर बल दिया गया। दोनों ही स्थितियों ने भारत में संघीय व्यवस्था को व्यावहारिक पटरी पर लाने में योग दिया। इस रूप में भारत में संघीय व्यवस्था के सफर व कार्य गतिकी को मोटे तौर पर दो भाग में भाग कर देखा जा सकता है। पहले हिस्से में 1952 से 1990 तक की संघीय राजनीति व दूसरे हिस्से में नब्बे के बाद से अब तक के संघीय राजनीति व उससे जुड़ी प्रवृतियों को रेखांकित किया जायेगा

भारतीय लोकतांत्रिक राजनीति की यह खासियत रही है कि इसने संघवाद या संघीय प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों को आत्मसात किया है, चाहे वह निर्देशित संघवाद हो, एकात्मक हो चाहे मोल-तोल (नेगोशिएटिंग) वाला व सहयोगी संघवाद। विशेष रूप से 90 के बाद के दशक में संघवादी प्रवृति में संघीयकरण यानी फेडरलाईजेशन की प्रवृति ही देखी गई है जिसमें हरित संघवाद की भी सुगबुगाहट महसूस की जाने लगी है। यह शोध आलेख तीन हिस्सों में बंटा हुआ है। पहले हिस्से में संघवाद को परिभाषित करते हुये संघवादी राजनीति से जुड़ी चार अवस्थाओं, दूसरे हिस्से में स्वतंत्र भारत में उदारीकरण के पूर्व मौजूद संघीय प्रवृत्तियों को रेखांकित किया गया है। तीसरे हिस्से में नब्बे के बाद से अब तक के संघीय राजनीति के सफ़र व उसकी चुनौतियों को विश्लेषणात्मक तरीके से समझाने की कोशिश है।

स्पष्ट है कि इन तीनों ही चरणों पर विश्लेषणात्मक टीका-टिप्पणी करने से पूर्व बहुत संक्षेप में संघीय राजनीति को देखने व उसकी प्रवृत्तियों का जायजा करने से प्रतीत होता है कि संघीय राजनीति के पीछे संघवाद रूपी शब्दावली कार्य करती है। संघवाद शब्द का प्रयोग समयानुसार भिन्न-भिन्न संदर्भो में किया गया है। वास्तव में, शाब्दिक व वैचारिक प्रयोग ने इसके अर्थ को विकृत कर दिया है। लोकतंत्र की भांति भिन्न-भिन्न लोगों ने संघवाद का भी भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया है। सिद्धांत रूप में, संघवाद राज्य का वह संगठनात्मक स्वरूप है जिसमें, किसी समाज में राष्ट्रीय एकता तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता के बीच एक संतुलन स्थापित किया जाता है। यह एक प्रक्रिया है जिसमें कुछ स्वतंत्र, राजनीतिक इकाइयां एक ऐसा प्रबंधन करती हैं जिसमें वे सामान्य समस्याओं के लिये संयुक्त नीतियां बनाकर व संयुक्त निर्णय करके उनका समाधान कर सकें। दूसरे शब्दों में संघवाद साझे राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु एक संवैधानिक यंत्र है जिसमें देश की संकेन्द्रक व विभाजक प्रवृत्तियों की विपरीत शक्तियों को समेकित करके विभिन्नता में एकता सुनिश्चित की जाती है।

संघवाद में ऐसे निश्चित व कठोर सिद्धांत नहीं होते जो प्रत्येक ऐतिहासिक परिस्थिति में एक समान रूप से लागू हों। शासन के सिद्धांत के रूप में संघवाद विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न स्वरूप ग्रहण करता है। इस लिहाज़ से संघवाद से जुड़ी कुछ मूल अवधारणाएं व विचार आवश्यक रूप से महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। संघवाद एक संस्थागत निकाय है जो दो प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं को समाहित करती है। इसमें एक प्रांतीय स्तर की होती है और दूसरी केन्द्रीय स्तर की। प्रत्येक सरकार अपने क्षेत्र में स्वायत्त होती है। इस रूप में लोगों की दोहरी पहचान व निष्ठाएं होती हैं। वे अपने क्षेत्र के भी होते हैं और राष्ट्र के भी। जैसे हममें से कोई गुजराती, बिहारी या पंजाबी होने के साथ-साथ भारतीय भी होता है। प्रत्येक स्तर की राजनीतिक व्यवस्था की अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं व वहां एक अलग सरकार भी होती है।

दोहरे शासन की विस्तृत रूपरेखा अमूमन एक लिखित संविधान में मौजूद होती है। यह संविधान सर्वोच्च होता है और दोनों सरकारों की शक्तियों का स्रोत भी। राष्ट्रीय महत्व के

लेखक राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय से 'राज्य व बाढ़ नियंत्रण की राजनीति' विषय पर पीएच.डी कर रहे हैं। इसी विश्वविद्यालय से 'सुशासन-भागीदारी के विशेष संदर्भ में' विषय पर अपना एम-फिल लघु-शोध पत्र भी लिखा है। आपकी किताब *सुशासन के आईने में नया बिहार,* प्रभात प्रकाशन से प्रकाशित हो चुकी है। आपने दो किताबों का हिन्दी में अनुवाद किया है: *पानी पर शिंकजा, भारत में बड़े बांधों की राजनीतिक अर्थव्यवस्था* (प्रकाशाधीन) (टेमिंग द वाटर का हिन्दी अनुवाद, ओक्सफोर्ड पब्लिकेशन से प्रकाशित पुस्तक) तथा *व्हाई इंडिया वोट* (मूल किताब, रटलेज प्रकाशन से)। ईमेल: pankaj.j.du@gmail.com

विषयों मसलन प्रतिरक्षा व मुद्रा का उत्तरदायित्व संघीय या केन्द्रीय सरकार का होता है। क्षेत्रीय या स्थानीय महत्व के निकायों पर प्रांतीय राज्य सरकारें जवाबदेह होती हैं। केन्द्र व राज्यों के मध्य किसी प्रकार के टकराव को रोकने के लिये एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था होती है जो संघर्षों का समाधान करती है। न्यायपालिका को केन्द्रीय सरकार व राज्यों के बीच शक्ति के बंटवारे के संबंध में उठने वाले कानूनी विवादों को हल करने का अधिकार होता है।

इन विशेषताओं व मूल अवधारणाओं के आलोक में भारतीय संघवादी प्रावधान का भी प्रयोग किया गया। भारतीय संविधान के अनुच्छेद एक में भारत को राज्य का संघ कहा गया है। डॉ. अंबेडकर ने संविधान सभा में इसकी व्याख्या करते हुये कहा कि भारतीय संघ का प्रादुर्भाव किसी समझौते से नहीं हुआ तथा दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी भी राज्य को भारतीय संघ से अलग होने का अधिकार नहीं है। हालांकि यह विमर्श हमेशा से सुर्खियों में रहा है कि क्या भारत संघीय पैमाने पर सही उतरता है। भारतीय संविधान निश्चित तौर पर केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन, स्वतंत्र व शक्तिशाली न्यायपालिका, स्वतंत्र निर्वाचन आयोग, संविधान की सर्वोच्चता, उच्च सदन का राज्य सदन होना, संविधान संशोधन प्रणाली आदि के आधार पर संघवाद के बहुत सारे लक्षणों को ग्रहण करता है। इसके बावजूद संघवाद के इस विशिष्ट क्लब में भारत की सदस्यता कुछ मायने में विवादित मानी जाती रही है।

संघीय राजनीति की चाउर अवस्थाएं

हिन्दुस्तानी राजनीति में संघवादी परिप्रेक्ष्य क्यों कार्य कर रहा है व इसके कार्य करने की दशाएं क्या-क्या हैं जैसे सवाल काफी अहम प्रतीत होते हैं। महत्वपूर्ण रूप से फ्रेडरिच (1968), राईकर (1975), दीक्षित (1975) व हैसी व राईट (1996) ने इस दिशा में महत्वपूर्ण रूप से कार्य किया है। परंतु इस मुद्दे पर सबसे अधिक प्रकाश वाट्स (Watts) ने डाला है। वाट्स ने संघवादी क्रिया करने संबंधी चार अवस्थाओं का जिक्र किया है। पहला, अभिजात्य समायोजन (Elite Accomodation)। दूसरा, जन संलग्नता के कारण हमारे समाज में उत्पन्न लोकतांत्रिक प्रवृतियां जो संघवादी प्रणाली की स्थापना के लिये विचार-विमर्श के ढांचे को जटिल बना सकती है। तीसरा, अंत:सरकारी एजेंसियों के बीच 'प्रतिस्पर्धा व टकराव' का माहौल। चौथे स्थान पर राईकर को रेखांकित करते हुये वाट्स ने लिखा है कि राजनीतिक दलों (जिसमें उसकी संख्या व चरित्र का विन्यास हो) की भूमिका व प्रभाव तथा इसके संघीय, राज्य व स्थानीय शाखाओं के साथ संबंध संघीय प्रक्रियाओं के विन्यास को विवेचित करने में सहयोग देता है।

महत्वपूर्ण रूप से उपर्युक्त चारों ढांचों को भारतीय संदर्भ में देखा जा सकता है। अभिजात्य समायोजन का सबसे बड़ा उदाहरण कांग्रेस के चरम शासन काल जिसे कांग्रेसवादी हैजोमोनिक युग भी कहते हैं, के अंतर्गत देखा जा सकता है जिसमें विशेष रूप से अभिजात्यवादी रुझानों पर खास जोर दिया गया। इसका सरोकार मुख्य रूप से कांग्रेस के भीतर बुर्जुआवादी, उच्च प्रबंधकीय अभिजात्य, राज्य की नौकरशाही के द्वारा सारी नीतियों पर आधिपत्य से था। दूसरा ढांचा अपने समय के लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों के रूप में सामने आता है जो जनसंलग्नता के रूप में व्यक्त होता है यह संघवादी प्रणाली की स्थापना के लिये कई दफा विचार-विमर्श के ढांचे को जटिल बना देता है। इसके अंतर्गत तेजी से गतिमान सामाजिक समूहों को रेखांकित किया जा सकता है जो प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक दलों के रूप में अपने खुद के नाम से संगठित होते हैं।

भारतीय संविधान निश्चित तौर पर केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन, स्वतंत्र व शक्तिशाली न्यायपालिका, स्वतंत्र निर्वाचन आयोग, संविधान की सर्वोच्चता, उच्च सदन, संविधान संशोधन प्रणाली आदि के आधार पर संघवाद के बहुत सारे लक्षणों को ग्रहण करता है। इसके बावजूद संघवाद के विशिष्ट क्लब में भारत की सदस्यता कुछ मायने में विवादित मानी जाती रही है।

1970 के दशक में भ्रष्टाचार के विरोध में शुरु किया गया जेपी आंदोलन व वर्तमान समय में पुन: भ्रष्टाचार के विरोध में लोकपाल की स्थापना से जुड़े अन्ना हजारे के आंदोलन को इसी के अंतर्गत देखा जा सकता है। तीसरे ढांचे के रूप में अंत:सरकारी एजेंसियों के आपसी टकराव व प्रतिस्पर्धा को रखा गया है, इसमें भारतीय राज्यों के बीच संसाधनों मसलन पानी, नदी के पानी के बंटवारे को लेकर विवाद को देखा जा सकता है जिसमें केन्द्र प्राय: मध्यस्थ की भूमिका में रहता है, इसके अंतर्गत नौकरशाही व राजनीतिक नेताओं के बीच टकराव व आपसी प्रतिस्पर्धा लगातार देखी जा सकती हैं। अभी हाल में मुल्लैपेरियार बांध को लेकर तमिलनाडु व केरल सरकार के बीच तनाव व उसमें केन्द्र सरकार की भूमिका को महत्वपूर्ण रूप से इसके अंतर्गत देखा जा सकता है। इसी तरह से चौथे विन्यास के अंतर्गत राजनीतिक दल की भूमिका व प्रभाव व इसका संघीय, राज्य सरकारों व स्थानीय शाखाओं के साथ संबंध संघीय प्रक्रियाओं के विन्यास को विवेचित करने में सहयोग करता है। इसके अंतर्गत प्रमुखता से केन्द्र व राज्यों में कांग्रेस पार्टी की एकदलीय प्रभुत्व वाली स्थिति का अवसान तथा अंतर-दलीय संघीयकरण की स्थिति में क्षेत्रीय, स्थानीय हितों का उदय महत्वपूर्ण रूप से देखा जा सकता है।

भारतीय संघीय राजनीति: सफ़रनामा

भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारतीय राष्ट्र व शक्तिशाली संपन्न राज्य के कार्यात्मक उपकरण के रूप में संघवाद को शुमार किया। इसके साथ-साथ आज़ादी के बाद के भारतीय नेताओं के समक्ष बाहरी व आंतरिक सुरक्षा के कवच के रूप में भी भारतीय शासन व्यवस्था में एक मजबूत संघवाद के संस्थानीकरण पर बल दिया गया। इन दोनों ही स्थितियों ने भारत में संघीय व्यवस्था को व्यावहारिक पटरी पर लाने में योग दिया। इस रूप में भारत में संघीय व्यवस्था के सफर व कार्य गतिकी को मोटे तौर पर दो भाग में भाग कर देखा जा सकता है। पहले हिस्से में 1952 से 1990 तक की संघीय राजनीति व दूसरे हिस्से में नब्बे के बाद से अब तक के संघीय राजनीति व उससे जुड़ी प्रवृतियों को रेखांकित किया जायेगा।

प्रथम चरण (1952-1990) के अंतर्गत भारतीय संघीय प्रणाली में 1952 से 1967 तक के काल को निर्देशित संघवाद के रूप में शुमार किया जाता है। इसके अंतर्गत निश्चित तौर पर सर्वशक्तिमान अभिजन के हाथ में ही सत्ता की कमान थी। कांग्रेस पार्टी 1950 व 1960 के चुनावी क्षितिज में शीर्ष पर थी। इसने सभी राष्ट्रीय व तकरीबन सभी राज्य स्तरीय चुनाव भी जीते। इस दौरान कांग्रेस पार्टी के संदर्भ में कांग्रेस सिस्टम शब्द भी इज़ाद किया गया था। इस दौरान प्रधानमंत्री नेहरू का रवैया स्कूल के उस मास्टर जैसा था जो राज्य के मुख्यमंत्री से प्रत्येक महीने राज्यों के संदर्भ में सूचनाएं मांगते थे व राष्ट्रीय सहमति बनाने के संदर्भ में उनके मत व सहयोग की अपेक्षा करते थे। इसके माध्यम से नेहरू स्थानीय व क्षेत्रीय नेताओं को राष्ट्रीय शक्ति संरचना में सहयोजन के रूप में देखते थे। इस रूप में कांग्रेस की भूमिका एक पर्यवेक्षक के रूप में थी।

1967 के बाद भारतीय संघवाद में कांग्रेस पार्टी के वर्चस्व में तेज़ी से गिरावट हुई।

कांग्रेस पार्टी केन्द्र में जहां साधारण बहुमत पर सिमट गई वहीं 1967 के ग्रीष्म तक 17 राज्यों में से आठ महत्वपूर्ण राज्यों में कांग्रेस की सरकार को पराजय का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय राजनीति में इस काल में केंद्र व राज्यों के बीच विवादों के उपरांत भी आपसी सहयोग बना रहा और सहयोगी संघवाद की गुंजाईश को कालांतर में महसूस किया जाने लगा था। चौथे आम चुनाव के पश्चात् प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को जिस तरह से क्षेत्रीय नेताओं ने समर्थन दिया वह सहयोगी संघवाद की नज़ीर पेश करती थी।

1971 के पांचवें लोकसभा चुनाव के उपरांत भारतीय संघवादी राजनीति में एकात्मक संघवाद के रूपक भी दिखाई पड़ते हैं। चुनाव में मिले बहुमत के उपरांत, गरीबी हटाओ, 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण, महाराजा के प्रीवीपर्स की समाप्ति की घोषणा करके भारतीय संघवाद फिर से एकात्मकता की ओर प्रवृत्त हो रहा था। महत्वपूर्ण रूप से इस दौर में राजनीतिक संस्थाएं चरमराने लगी थीं। कांग्रेस पार्टी के भीतर आंतरिक संघीयकरण की प्रवृति का लोप हो चुका था। नौकरशाहीकरण की बढ़ती शक्ति, अव्यवस्था, कांग्रेस पार्टी के साख में पतन की स्थिति, राजनीति व सिविल सेवा में भ्रष्टाचार ने इंदिरा गांधी की असुरक्षा को नैसर्गिक रूप से बढ़ाया था। जून 1975 में 19 महीने के लिये किये गये आंतरिक आपात की घोषणा के वक्त भारतीय संघीय प्रवृति भुरभुराने लगी थी, ऐसा प्रतीत होने लगा था कि हमारी सांस्थानिक भित्ति कितनी कमजोर है। गौरतलब है कि सीमित अर्थों में ही आपातकाल ने यह दिखा दिया कि भारतीय लोकतंत्र में संघीय व्यस्था ने अपना आत्म-शोधन का स्वयं का तंत्र विकसित कर लिया है। यही कारण है कि वह संकट के समय अपने रक्षा के औजारों का अपनी ढंग से इस्तेमाल करती है।

छठे आम चुनाव के उपरांत भारतीय संघीय राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन देखा गया। केन्द्र में आसीन जनता पार्टी की सरकार के साथ राज्यों की सरकारों ने मोल-तोल करने का प्रयास किया। वित्तीय मामलों को लेकर पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने सदैव केन्द्रीय सरकार को घेरने की कोशिश की। इस प्रकार इस वक्त *मोल-तोल वाली संघवादी* प्रवृत्तियों के उभार को देखा जा सकता है।

1980 के दशक में कांग्रेस की सरकार के गठन के बाद हुये परिवर्तनों के गाहे-बगाहे सहयोगी संघवाद की प्रवृति को देखा जा सका। वर्ष 1980 में पंजाब में अकाली दल जैसी क्षेत्रीय पार्टी का उभार, 1983 में केन्द्र व राज्य सरकार के बीच कटुता निपटाने के लिये सरकारिया आयोग का गठन संघीयकरण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। इस दौरान 1985 में पंजाब, 1986 में असम, मिजोरम, 1987 में त्रिपुरा के साथ समझौते की प्रवृति मिल का पत्थर माना जाता है। महत्वपूर्ण है कि इस संघीयकरण की प्रवृति के बावजूद इंदिरा गांधी की तरह राजीव गांधी के शासन में भी शासन तंत्र में केन्द्रीयकरण की प्रवृति व हेमोजिनीटी देखी गई।

नब्बे के दशक के बाद संघीय राजनीति

1990 के बाद के काल में भारतीय केंद्रीय राजनीति में गठबंधन युग का क्रमिक शुरुआत हो चुका था। गठबंधन की राजनीति की परिधि में मंदिर, मंडल व मार्केट की राजनीति भी घूर्णन कर रही थी। इस बदलती फिज़ा में संघीय राजनीति में पनपी प्रवृत्ति देखी गई।

छठे आम चुनाव के उपरांत भारतीय संघीय राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन देखा गया। केन्द्र में आसीन जनता पार्टी की सरकार के साथ राज्यों की सरकारों ने मोल-तोल करने का प्रयास किया। वित्तीय मामलों को लेकर पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने सदैव केन्द्रीय सरकार को घेरने की कोशिश की। इस प्रकार इस वक्त *मोल-तोल वाली संघवादी* प्रवृतियों के उभार को देखा जा सकता है।

पहला, जैसा कि डगलस वर्णी ने कहा है भारतीय राजनीतिक प्रणाली अर्द्ध-संघीय (Quasi-federal) की स्थिति से आज अर्द्ध-परिसंघीय स्थिति में आ गई है। गौरतलब है कि अर्द्ध-संघीय स्थिति में केन्द्र सरकार ज्यादा शक्तिशाली थी, जबकि आज अर्द्ध-परिसंघीय स्थिति में राज्य सरकारों का पलड़ा ज्यादा भारी हो गया लगता है। यह बात यहां महत्वपूर्ण है कि जैसे ही राज्य सरकारों का कद बढ़ता है वह केन्द्र सरकार से प्रत्येक मुद्दे पर सौदेबाज़ी करती हुई प्रतीत होती है। इसी कारण इस चरण को संघीय मोल-तोल के प्रमुख रूपक के रूप में वर्णित किया जा सकता है।

1989 से 2009 तक केन्द्र में बनी सरकारें मसलन वी.पी सिंह सरकार (1989), चंद्रशेखर (1990), पी.वी नरसिंहराव (1991), एच.डी देवगौड़ा (1996), इंद्र कुमार गुजराल (1997), अटल बिहारी वाजपेयी (1998 व 1999) तथा मनमोहन सिंह (2004-2009) की सरकारें जो गठबंधन की सरकार ही थी, सबमें संघीय मोल-तोल की प्रवृति देखी गई। इसके साथ ही साथ इन गठबंधन की सरकार के कारण भ्रष्टाचार के मामले में भी बढ़ोतरी देखी गई। नरसिंहराव सरकार में झामुमो रिश्वत कांड, मनमोहन सिंह सरकार में नोट के बदले वोट, 2 जी घोटाला जैसे बड़े मामले देखे गये।

दूसरी तरफ क्षेत्रीय दलों की बढ़ती शक्ति ने पूरी राष्ट्रीय राजनीति को एक नया आयाम प्रदान किया है। उत्तर प्रदेश में बसपा, सपा, बिहार में जद (यू), राजद, तमिलनाडु में डी.एम.के, अन्नाद्रमुक, पंजाब में अकाली दल, हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी, महाराष्ट्र में शिवसेना, ओडिशा में बीजू जनता दल और बंगाल में तृणमूल कांग्रेस जैसी क्षेत्रीय पार्टियों ने दो राष्ट्रीय दल कांग्रेस और भाजपा के साथ अपने अपने हितों के अनुसार गठबंधन करके यूपीए और एनडीए का निर्माण किया। ये सभी क्षेत्रीय पार्टियां अपनी विशिष्ट क्षेत्रीय हित, राज्य के लिये विशेष पैकेज मांग, विशेष राज्य का दर्जा (बिहार) पर लगातार राष्ट्रीय दलों पर दबाव बनाती रही है। ये पार्टियां अपनी क्षेत्रीय अस्मिता को विसर्जित करते हुये गठबंधन में किसी प्रकार के *मेल्टिंग पॉट* का शिकार नहीं हुई वरन् सलाद के पात्र की धारणा को जीवंत बनाये हुई हैं। एन.सी.टी.सी के मामले में यूपीए के गठबंधन सहयोगी तृणमूल के विरोध को इस संदर्भ में देखा जा सकता है।

संघवादी प्रणाली के विशेषज्ञ प्रो. एम.पी सिंह 1990 के बाद की भारतीय राष्ट्रीय राजनीति में बढ़ते संघीयकरण की प्रवृति को प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति, राज्यपाल, निर्वाचन आयोग के साथ-साथ वित्तीय संघवाद में बढ़ रही राज्यों की हिस्सेदारी के गाहे-बगाहे काफी महत्वपूर्ण मानते हैं। परंतु हमें साथ-साथ इस दौर में संघीयकरण व सहयोग के साथ-साथ तनाव व मोल-तोल वाली प्रवृतियां भी देखी जा सकती है। गोरखालैंड पर्वतीय प्रशासन के लिये गठित गोरखालैंड क्षेत्रीय प्रशासन (GAT) के समय जहां संघीयकरण की प्रवृति देखी गई वहीं बंग्लादेश से पानी के बंटवारे को लेकर केन्द्र बनाम पश्चिम बंगाल सरकार, आंतकरोधी ट्रिव्यूनल यानी एनसीटी का विवाद व मुल्लैपेरियार बांध का विवाद विवादित व मोल-तोल युक्त संघवादी राजनीति को बहाल करती है।

हरित संघवाद यानि ग्रीन फेडरलिज्म

बदलते विश्व में जलवायु परिवर्तन, जल प्रदूषण, जैव विविधता, वनों के कटाव, ओजोन स्तर के अपक्षय जैसी समस्याओं के इर्द-गिर्द

संघवादी प्रवृतियां तथा केन्द्र शासित राज्य

स्पष्ट है कि जब हम संघीय शासन प्रणाली में केन्द्र-राज्य के बीच संबंधों का आकलन करते हैं तो एक और पहलू यानी केन्द्र-शासित राज्यों के प्रशासन संबंधी मुद्दे उपेक्षित रह जाते हैं। भारतीय संविधान में जब यह कहा जाता है कि भारत राज्यों का संघ है तो इसका आशय 29 राज्यों व सात केन्द्रशासित प्रदेशों को मिलाकर संघ के निर्माण से है। गोया संविधान में इस बात का उल्लेख है कि सात केन्द्र शासित राज्यों मसलन चंडीगढ़, दादर व नगर हवेली, दमन व दीप, लक्षद्वीप, पुड्डुचेरी व राष्ट्रीय प्रशासित क्षेत्र दिल्ली को इसमें शामिल किया गया है। भारत के संघीय शासन के ढांचे में उप-राष्ट्रीय प्रशासन के अंतर्गत केन्द्र ही इनपर शासन करता है। राज्य के विपरीत यह प्रत्यक्ष रूप से संघीय केन्द्रीय सरकार के द्वारा शासित होती है। इसमें दिल्ली, पुड्डुचेरी, अंडमान व निकोबार द्वीप समूह को उपराज्यपाल के माध्यम से शासित किया जाता है वहीं दादरा और नगर हवेली व लक्षद्वीप, दमन व दीव को प्रशासक के माध्यम से। यदि केन्द्र व केन्द्र शासित प्रदेशों के बीच संबंधों को देखें तो स्पष्ट है कि दोनों के बीच राजनीतिक व प्रशासनिक शक्तियों को लेकर आपसी विवाद होते रहते हैं।

प्रोफेसर एम.पी सिंह के अनुसार 'जहां केन्द्र संविधान द्वारा उल्लेखित अच्छे प्रशासन को मुहैया कराने संबंधी उत्तरदायित्व से बंधा हुआ है वहीं केन्द्र शासित राज्य अपनी प्रशासनिक व वित्तीय स्वायत्तता के मांगों पर अडिग हैं'। प्रशासन का सवाल तो कई बार गंभीरता से दोनों के संबंधों में कटुता लाने में भी योग करता है। विशेष रूप से राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में पुलिस व कानून व्यवस्था किसके पास हो वह हमेशा से केन्द्र व दिल्ली सरकार के बीच तनातनी का विषय रहा है। यहां से निर्वाचित विधायक को हमेशा इस बात का रंज होता है कि उन पर विधायिका, प्रशासनिक व वित्तीय मामलों पर केन्द्रीय सरकार की नकेल रहती है। वह निर्वाचित प्रतिनिधि होकर भी गैर-निर्वाचित महसूस करते हैं उन्हें कई बार *सेकेण्ड क्लास लेजिस्लेटर* होने का बोध होता है। हालांकि इन बढ़ते विवादों के कारण ही संप्रग सरकार ने अपने द्वारा घोषित नीति आयोग में राज्यों के मुख्यमंत्रियों के साथ-साथ केन्द्रशासित प्रदेशों के भी उपराज्यपालों व प्रशासकों को शामिल किया है ताकि कॉपरेटिव फेडरलिज्म की संकल्पना को साकार किया जा सके।

संघवाद की पूरी संकल्पना में हरित संघवाद को शामिल करके इसे और सबलीकृत करने पर बल दिया जा रहा है। गौरतलब है कि हमारे संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्व के अंतर्गत अनुच्छेद 48क में हालांकि पर्यावरण संरक्षण की बात की गई है परंतु नीति निर्देशक तत्व होने के कारण इसको लागू करने की दिशा में कोई ठोस पहल नहीं हो पाई। इसी तरह संविधान में निर्मित तीनों सूचियों मसलन संघ सूची राज्य सूची व समवर्ती सूचियों में भी इससे संबंधित विषयों पर केन्द्र, राज्य व दोनों ही सरकारों को कानून बनाने की शक्ति प्रदान की गई है। परंतु पहली बार बहुत ही ठोस तरीके से 13वें वित्त आयोग ने इसकी जरूरत को रेखांकित करते हुये कहा कि अब समय आ गया है कि पारिस्थितकी, जलवायु परिवर्तन व जैव विविधता के बीच उचित प्रबंधन के द्वारा संपोषित विकास के लक्ष्यों को हासिल किया जाये। आयोग ने वन संबंधी अनुदान के तहत करीब 5,000 करोड़ रुपये की सिफारिश की (पैरा, 12.46)। इसके साथ-साथ उर्वरक सब्सिडी को बढ़ावा देने व भू-जल दोहन को रोकने पर खास जोर दिया। समग्र रूप से हरित संघवाद के अंतर्गत निम्न बिंदुओं पर खास जोर दिया गया है: क) मूल पर्यावरणीय जरूरतों के हिसाब से संसाधन मुहैया कराया जाये ताकि सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर विशेष फोकस की जा सके। ख) इस कार्य में बहु-स्तरीय निकायों को जोड़कर इस प्रक्रिया को सघन बनाया जा सकता है। ग) केन्द्र से राज्य व राज्य से स्थानीय स्तर पर वित्तीय हस्तांतरण पर पारदर्शी व्यवस्था सुलभ की जा सके। घ) पर्वतीय व उपद्वीपीय इलाकों में पर्यावरणीय संरक्षण पर विशेष पहल करनी चाहिये। ❑

संदर्भ:

इस प्रवृति के अध्ययन के लिए विशेष रूप से देखें, पॉल.आर.ब्रास, 'कोलिएशन पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया', द अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू, वर्ष 62, अंक 4, दिसंबर 1968, पृ-1174-1191।

ए.एस., नारंग (2005), 'संघवाद पद्धति व कार्य पद्धति', भारतीय शासन व राजनीति, गीतांजलि पब्लिशिंग हाऊस, पृ-74।

राष्ट्रीय सहारा (2012), का विशेष सप्ताहिक अंक, हस्तक्षेप, 28 अप्रैल।

सुब्रत के. मित्रा व मालटे पहल (2012), 'फेडरलिज्म', उपलब्ध है, नीरजा गोपाल जयाल, प्रताप भानु मेहता (संपादित), कंपेनियन टू पॉलिटिक्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ-44।

वाट्स ने संघवादी प्रणाली संबंधी अपने विस्तृत अध्ययन में कुल 23 राज्यों को संघीय राज्य के रूप में शुमार किया है। महत्वपूर्ण है कि वह इस संघवादी क्लब में भारत व मलेशिया को नहीं रखते हैं, (वाट्स 1998, पृ-121)। इनके अनुसार, ये देश बहुभाषी, बहु-सांस्कृतिक व बहु-नस्लीय विविधता से युक्त है साथ-साथ वे अपने विकास के गंभीर दौर में भी हैं (पूर्वउद्धृत, पृ-118)।

के.सी व्हीयर (1951), फेडरल गवर्नमेंट, वेस्टकोर्ट: ग्रीनवुड पब्लिशिंग ग्रुप।

डी.डी बसु (2002), इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडिया, वाधवा पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली।

रोनाल्ड, ए.वाट्स (1998), फेडरलिज्म, फेडरल पॉलिटिक्स एण्ड फेडरेशन, एनवल रिव्यू ऑफ पॉलिटिकल साइंस, खंड-1, पृ-117-37.

पूर्वउद्धृत, 130.

परंजय गुहा ठाकुराता, शंकर रघुमन (2004), ए टाइम ऑफ कालिजन्स, डिवाडेड वी स्टेंड, सेज पब्लिकेशन, पृ-16.

जयप्रकाश नारायण द्वारा 1974 में भ्रष्टाचार, घूसखोरी, कालाबाजारी को समाप्त करने के लिये संपूर्ण क्रांति शुरू की गयी। भ्रष्टाचार के मुद्दों पर पुनः अन्ना हजारे के नेतृत्व में लोकपाल की स्थापना के लिये दिल्ली में जनआंदोलन किया गया। यह संघीय व्यवस्था में नवीन प्रवृति है।

रामास्वामी अय्यर (2007), 'टूवर्डस गुड सेंस ऑन मुल्लैपेरियार', इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, जनवरी 6, पृ-13।

मौरिस जोन्स ने कांग्रेस के 1952-66 के शासन काल को एक दलीय प्रभुत्व के रूप में शुमार किया है। इसका आशय ऐसे संघीय प्रणाली से है, जहां संघीय गुण हैं, परंतु फिर भी अभिजन नीति नियंता और आम जनता के बीच दूरी है। क्षेत्रीय व सुसुप्त पहचान उभर नहीं पा रही है।

कांग्रेस प्रणाली शब्द प्रोफेसर रजनी कोठारी द्वारा प्रयोग किया है। कोठारी ने कांग्रेस के 1952-1967 के शासनकाल को कांग्रेस सिस्टम कहा है जिसमें कांग्रेस पार्टी मदर पार्टी व कैच ऑफ ऑल वाली स्थिति में थी।

नेहरू द्वारा लिखा गया यह पत्र चार खंड में अब उपलब्ध है (नेहरू, 1985) जो आरंभिक स्वतंत्रता के दशकों की राजनीति से संबंधित है।

लेहपार्ट (1996), सहवर्तन मूलक रणनीति से जुड़े सैद्धांतिक विवेचन, पृ-258-68।

कोहली (1991), क्राइसिस ऑफ गवर्नमेंटेबलिटी (कांग्रेस पार्टी की केन्द्रीकरण की प्रवृति)।

पार्थ चटर्जी (1997), भूमिका, स्टेट एण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ-34।

राजनीतिक विश्लेषक योगेन्द्र यादव ने 1990 के बाद की राजनीति को तीन मकार, मंडल मंदिर मार्केट के रूप में शुमार किया है।

के.सी व्हीयर (1964), फेडरेल गवर्नमेंट, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

डगलस वी. वर्णी (2003), 'फ्रॉम क्वेजाई फेडरेशन टु क्वेजाई कॉनफेडरेसी द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ इंडियाज पार्टी सिस्टम', पब्लिशर्स द जर्नल ऑफ फेडेरलिज्म, वर्ष-33, अंक 4.

मोरिस जोन्स (1971), द गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ इंडिया, हचिन्सन, पृ-50।

वित्तीय संघवाद: सीखे अनसीखे सबक

बलबीर अरोड़ा

एक ओर जहां सहभागी और प्रतिस्पर्धी संघवाद आजकल राजनीतिक विमर्श के प्रमुख शब्द बन गये हैं, यह याद रखना जरूरी है कि भारतीय संघवाद राज्यों और जिलों में निवास करता है। जब तक इन स्तरों पर बदलाव परिलक्षित नहीं होते, भारतीय लोकतंत्र के सुदृढ़ीकरण का काम अधूरा ही रहेगा। संघीय लोकतंत्र में लोकतांत्रिक विकास का तर्क शासन में कई प्रयोगों का हिमायती है, बशर्ते वे संविधान के बुनियादी मूल्य और इसके स्वरूपों के प्रति सम्मान रखें

पिछले छह दशकों में भारत का संघीय लोकतंत्र कई बदलाव से होकर गुजरा है यहां हम इसके अनुभवों, हिचकिचाहटों, गलतियों और विफलताओं के साथ-साथ इसमें अंतर्निहित नवोन्मेष, आधिक्य और सफलताओं के परिभाषिक स्वरूपों को समझने की कोशिश करते हैं। संघीय गठबंधन के युग में पिछले दो दशकों यह एक नये स्थिरांक पर पहुंच चुका है। इस अनुभव की शुरुआत में कई संवैधानिक शुद्धवादियों की आशा के विपरीत परंपरावादी ज्ञान के कई विहित तथ्यों को किनारे रख दिया गया था। इस दौरान एकात्मवादी औपनिवेशिक राज्य के धरोहर की सीख से अलग समाधान की तलाश में ऐसे रास्ते अख्तियार किये गये, जिनसे कभी इस तरीके से सामना नहीं हुआ था। इस दौरान व्यवस्था इस तथ्य की खोज कोशिशों में लगी थी कि किस तरह विविधताओं को बगैर एकता की भावना के बलिदान के समन्वित करने की कोशिश की जा सकती है। इस प्रक्रिया में कुछ पकड़ ढीली हुई, कुछ पर दबाव बढ़ाया गया। ऐसे में वैश्विक आर्थिक विकास के नव उदारवादी दौर से देश के पीछे हटते जाने की तुलना करना मुद्दे का अत्यंत सरलीकरण करना ही होगा। विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र भारत सतत रूप से अपने नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा में प्रयत्नशील रहने के कारण जाना जाता है। यह जीवित है और फल-फूल रहा है, तो इसका कारण है कि इसकी रचना ही संघीय है। हम यहां कुछ उन महत्वपूर्ण बिंदुओं को निरूपित करने की कोशिश करेंगे, जिन्होंने भारतीय संघ के विकास को रेखांकित किया है और यह भी कि क्या इससे कोई सबक हमने सीखा भी है या नहीं।

उपयुक्त संघीय ढांचे का निर्माण: चुनौतियां

अव्यवस्थित अनौपनिवेश ने नये स्वाधीन देश को सुव्यवस्थित करने की महती आवश्यकता पैदा कर दी थी। संविधान सभा के संस्थापकों की तमाम बुद्धिमता सिर्फ तात्कालिक उठापटक को शांत करने में निहित नहीं थी। वे एक टिकाऊ लोकतंत्र की आधारशिला तैयार करना चाहते थे, बगैर अपने सिद्धांतों और दृष्टि से समझौता किये कि भारतीय गणराज्य किस तरह प्रतिनिधित्व के लिए आगे बढ़ना चाहता है। तात्कालिक परिस्थितियों और जिस तरह घटनाएं घटी थीं, उनमें एकता की भावना और भारत को वैचारिक तौर पर स्थिर करने की भावना प्रबल थी। काफी वाद-विवाद के बाद संविधान सभा ने एक धर्मनिरपेक्ष गणराज्य का मार्ग चुना, जिसमें अल्पसंख्यकों के अधिकार की सुरक्षा प्रमुख भावना थी। देश विभाजन के दौरान आतंक और डर की स्थितियों के आलोक में संविधान सभा स्वाभाविक तौर पर नये राष्ट्र में एकता और अखंडता सुनिश्चित करना चाहती थी। नये गणराज्य में अतिशय संघवाद के साथ-साथ अकाट्य रूप से अपकेंद्री और पृथकवादी तत्वों का जोखिम कम करने की जोखिम बरकरार थी।

अंत में जो ढांचा अंगीकार किया गया, वह मौजूदा सभी महत्वपूर्ण संघीय मॉडलों से लिया गया था। संविधान सभा ने एक ऐसी प्रणाली सुझायी जो समय और संघीय समाज की जरूरतों के मुताबिक थी। संघीय लोकतंत्र के

लेखक *सेंटर फॉर मल्टी लेवल फेडरलिज्म* के अध्यक्ष तथा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल सांइसेज में राजनिति विज्ञान के पूर्व प्राध्यापक हैं और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में रेक्टर रहे हैं। वह पेरिस स्थित ट्रांस-कल्चरा अंतर्राष्ट्रीय संस्थान के उपाध्यक्ष तथा साइंसेज-पो इंडिया एल्युमिनाई एसोसिएशन के अध्यक्ष हैं। उनके अकादमिक शोध संघीय शासन और लोकनीति विषयों से संबंधित हैं। वह देश-विदेश की विभिन्न संस्थाओं में भी पढ़ाते हैं तथा उन्हें फ्रांस गणराज्य के सर्वोत्तम नागरिक सम्मान से सम्मानित किया जा चुका है। ईमेल: balveerarora@gmail.com

तर्कों के साथ जिस राजनितिक प्रक्रिया की शुरुआत की गयी थी, उसे आने वाले समय में इस काम को बखूबी पूरा किया। किसी पूर्व रिकॉर्ड की अनुपलब्धता और कोई ऐसे मानक की अनुपस्थिति जो उस दौर के नियमों और मापदंडों की व्याख्या करे, उन मॉडलों को अंगीकार किये जाने के बारे में विधिवेत्ताओं का मानना है कि वह प्रणाली शायद ही संघीय रही है। इस तरह इसे नाम का ही संघीय कहा जा सकता है। इन वर्णनों को आज न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि आज संघीय सिद्धांतों ने भारतीय भूमि में गहरी जड़ें जमा ली हैं। भारतीय राजनितिक संस्थानों को आज संघीय प्रजाति की संकर नस्ल के रूप में मान्यता दी जाती है। स्वराज्य व सांझा शासन को रूढ़िवादी तरीके से जोड़ दिया गया है कि भारत संघ न सिर्फ जीवित है, बल्कि अपनी विविधताओं के बावजूद फल-फूल रहा है। यह एक मूल्यवान परंपरा है, जिसे भारत के लोकतंत्र के रूप में जीवित रहने के लिए अनिवार्य रूप से सुरक्षित रखा जाना चाहिए।

राज्यों का पुनर्गठनः मापदंड और राजनीति

प्रादेशिक संगठनों के आधार पर भाषाई पहचान की मान्यता का सवाल एक बड़े मुद्दे के रूप में संविधान सभा के सामने उठा। इसकी जड़ें राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान किये गये वादों और बाद में प्राथमिकताओं और लोकप्रिय भावनाओं की अनदेखी में रही हैं। कई रेखांकन और लचीली पुनर्गठन प्रक्रिया संविधान में शामिल की गई थीं, जिनपर भौंहे टेढ़ी हुईं। व्यवहार में इसने आखिर कैसे कार्य किया? हमें उन राजनीतिक संवैधानिक प्रक्रियाओं का पूर्वमूल्यांकन करना होगा, जिनकी बदौलत इन प्रविधियों का हो पाना सुनिश्चित हुआ। तेलंगाना राज्य के उदय के पीछे प्रताड़नात्मक और हिंसक प्रविधियां इस प्रक्रिया के सुचारू रूप से चलाये जाने में कठिनाई का पर्याप्त दस्तावेज हैं। स्वाधीनता के बाद के दो दशक की राजनीतिक प्रक्रिया पहचान के संकट और अभाव की राजनीति का मिश्रण रही है। इस काल की चिंताएं पहचान, भाषा और सीमाओं के आसपास घूमती रही हैं।

संविधान सभा ने टूटे हुए राज्यों का एक अटूट संघ बना दिया, जिसमें शुरुआती वर्षों में पृथकतावाद की कोई जगह नहीं थी, लेकिन संवैधानिक लचीलेपन ने दूसरे किस्म के समाधान की खोज को भी सामर्थ्य प्रदान की। कुल मिलाकर अनिच्छुक से मजबूत संघ की ओर झुकाव की प्रेरणा शक्ति लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया से आयी, जिसने भारतीय संघवाद की वास्तविकताओं की उपेक्षा मुश्किल की दी।

मजबूत केंद्रीय ढांचे का लचीलापन

मजबूत केंद्रीय ढांचा वस्तुतः काफी लचीला सिद्ध हुआ है, उस स्थिति में भी जब नव उदारवादियों ने अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप वापस लेने की मांग की थी। विनियमन का अर्थ यह नहीं कि नियमनरहित विकास हो। नयी स्वाधीन नियमन यांत्रिकी ने पुरानी राज्य एजेंसियों का स्थान ले लिया है। यह दूसरी बात है कि इन नयी स्वायत्त संस्थाओं को नाटकीय रूप से उत्तरदायी नहीं बनाया गया है। केन्द्र ने सभी वृहत आर्थिक नियंत्रकों पर अधिकार हासिल कर लिया है। जहां तक विनियमन जैसे कुछ क्षेत्र बाकी रह गये हैं, जहां राज्य के लिये काफी कुछ करने की गुंजाइश बाकी है, केन्द्रीय नियमन की आवश्यकताओं को परे भी नहीं किया गया है और यह कई नये क्षेत्रों में अभी भी जारी हैं।

सामाजिक विविधताओं और बहुलताओं की प्रकृति और विशालता को देखते हुए एक मजबूत केन्द्रीय राज्य में न्यायिक हस्तक्षेप को हमेशा अनिवार्य माना गया है, ताकि सामाजिक सामंजस्य बरकरार रखा जा सके। भारतीय संघीय विकास का पहला चरण सांस्थिक उपकरणों के इश्तिहारी विकास के रूप में सामने आया, जिसे सहयोग और समन्वय की आवश्यकता के अनुरूप विकसित किया गया था। एकदलीय आधिपत्य ने उन चुनौतियों को धुंधला किया, जो आगे मौजूद थीं। राज्य की स्वायत्तता के पक्षधरों के द्वारा एक मजबूत केन्द्रीय ढांचे को वास्तविक रूप से कोई चुनौती नहीं मिली और न ही उसे हटाने की मांग हुई, बल्कि वे चाहते थे कि मजबूत राज्य में मौजूदा ढांचे में ही राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जाये।

इस बात का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि मौलिक स्वरूप में पर्याप्त रूप से राज्य सरकार ने बुनियादी विकासात्मक गतिविधियों के लिए विधायी शक्तियां और उत्तरदायित्व विहित की गई थी। फिर भी भारतीय संविधान का मौलिक पठन भटकाने वाला होगा। इसमें कई दोहराव हुए हैं, न सिर्फ न्याय की समवर्ती सूची में बल्कि उन क्षेत्रों में भी जिन्हें राज्य को अनुबंधित किए गए हैं।

राज्य के वित्तीय संकट ने केन्द्रीय योजनाओं और राष्ट्रीय मिशन के प्रसार की संभावनाओं को जन्म दिया है। सूची-111 में उच्चाकांक्षाओं के प्रभाव क्षेत्र की एन्ट्र 20, सामाजिक और आर्थिक योजनाओं ने पहले चरण में योजनाबद्ध विकास मॉडल तैयार करने का संवैधानिक आधर तैयार कर दिया। शक्ति और दायित्वों का विभाजन महत्वपूर्ण मुद्दे बन गये, जिन्होंने शुरूआती काल के सुधारवादी एजेंडे के मुद्दे पर बढ़त हासिल कर ली। जहां संघीय राजनीतिक प्रणाली में शक्ति और उत्तरदायित्व के बंटवारे का मुद्दा सामान्य तौर पर विवाद का विषय होता है, दोनों के बीच की बड़ी असमानता एक किस्म के तनाव की वजह बन सकती है।

राज्यों के साथ संघीय संवाद को अक्सर केन्द्र प्रशासन और नीति निर्णयों द्वारा बाधित किया जाता है। केन्द्र पहले खास कार्य योजना पर निर्णय ले लेता है, उसके बाद राज्यों से मंतव्य मांगे जाते हैं। निर्णय लेने के बाद सहमति बनाने की कोशिश होती है, न कि पहले। निर्णय लेने की इस प्रक्रिया को अक्सर विरोध का सामना करना पड़ता है। राज्यों के अधिकारों में बढोतरी के उभरते परिप्रेक्ष्य में सलाह का आखिरकार कोई अर्थ नहीं रह जाता। जरूरी यह है कि ज्यादा समावेशी निर्णय प्रक्रिया को अमली जामा पहनाया जाऐ।

असमान राज्य असमानता की संवैधानिक मान्यता की जरूरतों को बढ़ावा देते हैं, जो संघीय राजीनीति में बिना एकता की भावना का बलिदान दिये या फिर एकरूपता को थोपने का तथा विविधता को सुरक्षित रखने का रास्ता तैयार करते हैं

असममित संघवाद

अधिक उत्तरदायी और सहभागी संघीय लोकतंत्र से जुड़े सवाल के बारे में असममित संघवाद की धारणा होती है। जैसा कि राजनीतिक और आर्थिक असमितियां असममित संघवाद पर जोर देती हैं। जैसे ही राजनीतिक और आर्थिक असममितियां प्रभावी रूप ले लेती हैं, एक संवैधानिक व्यवस्था की मांग जोर पकड़ने लगती है। भारत में राज्यों की असमानताएं और राज्यों के अंदर की क्षेत्रीयता ने सामान्य रूप से तनाव और असंतुष्टि को जन्म दिया है। असममित संघवाद और विशेष दर्जा के प्रावधानों, साथ में विशेष वित्तीय शासन और लाभ आदि से कुछ हद तक इन समस्याओं ने निजात पाने में सहायता की है।

विशेष दर्जे के प्रावधानों का इतिहास, भूगोल और संस्कृति से जुड़े मुद्दों को हल करने में उपयोग किया जाता रहा हैं। धारा 370 और 371 कुछ ऐसे ही अनुकूलित संवैधानिक इंजीनियरिंग के उदाहरण है। विशेष दर्जा और विशेष मांग और आवश्यकताओं का अनोखा संबंध काफी हद तक हमारी संवैधानिक संरचना

के अंग रहे हैं। उप-राज्य स्वायत्त जिला परिषद आदि के मिश्रित रिकार्ड रहे हैं। कुछ राज्य बनने की दिशा के संचरण केन्द्र और कुछ ज्यादा स्थायी संरचनात्मक वृत्ति के रहे हैं। स्वशासन और साझा शासन को जोड़कर देखने पर उत्तर-पूर्व राज्यों का निर्माण ऐसे ही मुद्दों के उभार के रूप में सामने आया है।

वित्तीय संघवाद: नया मंत्र

क्या उदारवाद और विनियमन ने केंद्र को मजबूत या कमजोर किया है? क्या इस नये बदले उदाहरणों ने राजनीति और राजनीतिक सोच के विकास को पीछे छोड़ दिया है? क्या राज्यों के अधिकार पर मंथन राजनीतिक स्वायत्तता से आर्थिक दावेदारी की ओर मुड़ चुका है? इन सवालों के जवाब अभी भी अधर में हैं।

भारत संघ के निर्माण में जो विकास क्रम अपनाये गये, उनका उद्देश्य सर्वप्रथम राजनीतिक सुदृढ़ीकरण और फिर एक सामान्य बाजार का निर्माण करना था जो आसान काम था, फिर एक समरूप मुद्रा की व्यवस्था, एक केंद्रीकृत बैंक का गठन था, जिसका नियंत्रण अन्य वृहत आर्थिक संकेद्रकों पर था।

वित्तीय संघवाद के अंदर मौजूद असंतुलन ने हालांकि इस दीर्घ समन्वितीकरण की प्रक्रिया के सामने नई बाधायें खड़ी कीं। राज्य सत्ता के केन्द्र बनाये गये और अंतरराज्यीय राजस्व के स्रोत को सुचारू रखने के लिये उसके साथ पहल धीरे-धीरे मुश्किल होती गयी।

भारत के राजनीतिक और आर्थिक विकास का नया दौर सन् 1990 में उदारवाद के साथ शुरू हुआ और बाजार की ताकतों की भूमिका बढ़ती गयी। इस बदलाव ने बाजार आधारित अर्थवस्था और वैश्विक सहमति पर आधारित राजनीति के बीच नये अंतर्विरोधों को जन्म दिया। पहले इन तनावों के बीच मध्यस्थता करने की भूमिका राज्यों की होती थी। राज्य मध्यस्थता करके बाजार से बाहर हुए लोगों को समाविष्ट करने में अपनी नीतियों और राजनितिक लोकतंत्र के माध्यम से अपनी भूमिका निभाते थे।

बड़ी आर्थिक असमानताओं के अलावा भारतीय संघ बड़ी क्षेत्रीय विषमताओं के लिये भी जाना जाता है। यहां फिर, भौगोलिक रूप से असंतुलित विकास के परिणामों को संतुलित करने में राज्यों की ही प्राथमिक भूमिका हुआ करती थी।

इस प्रकार आज की परिस्थितियां वृहत रूप में दो कारकों के समन्वित रूप का परिणाम हैं। आर्थिक उदारीकरण सुधार कार्यक्रम और दलीय व्यवस्था का संघीकरण। असमानताओं का बढ़ते जाना आज एक जटिल समस्या है। इसी तरह सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को देखा जाता है, यह राज्यों की नयी भूमिकाओं में एक केन्द्रीय बिन्दु बनकर उभरा है।

पूंजी निवेश के बाजार आवंटन पर विश्वास में उन राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ा दी है, तो असंतुलन की मार झेल रहे हैं। इसने एक प्रतिस्पर्धी संघवाद को उभारा है, जिसमें क्रियात्मक अवस्था के लिये अभी पर्याप्त संभावनाओं की कमी है।

राज्यों द्वारा निवेश को आकर्षित करने के लिए हो रही प्रतिस्पर्धा के प्रभाव को दो स्तरों पर समझा जा सकता है। एक तरफ राज्यों पर दबाव है कि वे अच्छा शासन दें और क्षमताओं के साथ अपना वित्तीय दायित्व निभायें, दूसरी तरफ वे उनकी निर्वाचन लोकप्रियता में सुधारों के नकारात्मक परिणामों से भी वाकिफ हैं।

कार्यकारी संघवाद का विकास भारतीय संघीयविकास का एक उल्लेखनीय पहलू है। नौकरशाही विकास योजनाओं, इसकी रूपरेखा तैयार करने, लक्षित करने और क्रियान्वित करने के साथ विकसित हो रही है। सशक्तीकरण और समावेशी शासन से ज्यादा फिलहाल योजनायों के क्रियान्वयन पर ज्यादा फोकस है। संस्थाएं इसी अनुसार विकसित और व्यवस्थित होती जा रही है।

स्थानीय आकांक्षाओं का समंजन: नयी अनिवार्यता

सन् 1990 को भारत की राजनीति के बदलाव के दौर के रूप में देखा जा सकता है, जिसने एक ऐसी राजनीतिक प्रणाली का रास्ता तैयार किया, जो ज्यादा संघीय था। संघीय गठबंधनों से सहभागिता और निर्णयों का नया तरीका विकासित हुआ, जिसे क्रमश: संसदीय प्रणाली और संविधान को अभी औपचारिक तौर पर अंगीकार करना बाकी है।

संघीय गठबंधन के माध्यम से राज्य आधारित दलों की शक्ति और प्रभाव राष्ट्रीय नीतियां तैयार करने और केंद्र-राज्य संबधों में महसूस की गयी। अत्यंत महत्वपूर्ण यह है कि एक राज्य और कई राज्य आधारित पार्टियों ने राजनीतिक प्रक्रिया के माध्यम से राष्ट्रीय नीति निर्धारण में बढ़ी हुई भूमिका निभाई, जो उन्होंने सहभागी संघ की औपचारिक संस्थाओं के माध्यम से हासिल नहीं किया था। परिणामस्वरूप संघीय गठबंधन ने उन्हें सहभागी अवसर मुहैया करा दिए, जो उन्हें पूर्व में हासिल थे।

इस बदलाव के पीछे दो प्रमुख वाहक कारक रहे हैं। पहला, वैश्वीकरण ने राजनीति में नये आयाम जोड़े। साथ ही, आर्थिक सुधारों ने राज्यों को नयी भूमिका और उत्तरदायित्व से जोड़ा। दूसरा, दलीय प्रणाली के संघवाद ने, जो एक नये आयाम के रूप में उभरा था, एक प्रतिस्पर्धी तर्क के साथ खुद को स्थापित किया, जिसे एक क्रांतिकारी विकास माना जा सकता है।

राज्य आधारित दलों के राष्ट्रीय संमजन के द्वारा स्थानीय आकांक्षाओं की स्थापना कई चर्चाओं के बाद सामने आया, जो इस विवाद का केंद्र बिंदु है। बहुस्तरीय संबधों से उभरी एक जटिल सत्ता साझेदारी इस पूरी प्रणाली को एक साथ बनाये रखने में एक महत्वपूर्ण कारक है।

एक दूसरे बड़े विचार की ओर देखें, जो उस काल में आया, वह है, स्थानीय स्वशासन में सत्ता का केंद्रीकरण। यह विचार संविधान के 73वें संशोधन के रूप में विधायी आकार ले पाया और जिससे संघीय ढांचे के तीसरे स्तर को संवैधानिक मान्यता मिली। (1992-95)।

हालांकि इसका अर्थ यह नहीं है कि बहुस्तरीय संघवाद एक जमीनी वास्तविकता है या फिर निकट भविष्य में ऐसा संभव है। यह उल्लेख करना जरूरी है कि राज्यों में, खासकर इसके अंदर राजनीतिक तबके और नौकरशाही में सशक्त हित निहित है, जो इस विकेंद्रीकरण को रोकते हैं। नागरिक समाज संस्थाएं और स्वैच्छिक क्षेत्रों के साथ काम कर रही पंचायत प्रणाली का क्रमिक विकास संघीय पारिभाषिक विकास माना जा सकता है। इस स्तर पर दृढ़ रहा दबाव वादा करता है कि यह सांस्थिक संरचना में विकास करने को प्रतिबद्ध है।

नयी सदी की चुनौतियां

भारतीय संघवाद की कार्यप्रणाली की समीक्षा करने के बाद अब हम नयी सदी में इसके सामने आ रही चुनौतियों की ओर रुख करते हैं। जैसा कि हालिया अध्ययन इशारा करते हैं, क्या सत्ता का विकेंद्रीकरण केंद्र से राज्यों की राजधानियों और आगे इससे भी नीचे जिले और पंचायत स्तर तक हो रहा है? इन दावों के पक्ष में जो साक्ष्य सामने आये हैं उनके अनुसार क्षेत्रीयता और जातीयता आधारित दलों का उभार हुआ है और देश के कई हिस्सों से अलग राज्य की मांग उठ खड़ी हुई है। समकालीन तथ्यों के आलोक में आए, इन रुझानों का आकलन करें।

सांस्कृतिक असहिष्णुता के उभार ने संघीय लोकतंत्र के बहुसांस्कृतिक ताने बाने के सामने खतरा पैदा कर दिया है। दो बड़े मुद्दे अनसुलझे हैं। एक मुद्दा किनारे रखा जाता है और इसे कानून (राष्ट्रपति शासन) और राजनीतिक प्रक्रिया

से सुलझाया जाता है। राज्य के कानूनों को विचाराधीन रखने की राज्यपाल की शक्तियों को लेकर अभी भी विवाद जारी है, लेकिन इस मामले में नियमों को धीरे-धीरे सुचारू बनाया जा रहा है।

पहला, पहचान आधारित मुद्दा: यह मुद्दा दूसरे राज्य पुर्नगठन आयोग की मांग के रूप में सामने आया और साथ ही स्वशासन की मांग के आधार पर संघीय प्रणाली की सीमाओं पर पुनर्विचार के रूप में भी। तेलंगाना राज्य का निर्माण हो चुका है, लेकिन विदर्भ के साथ-साथ उत्तर प्रदेश सहित अन्य राज्यों के पुनर्गठन का मुद्दा अभी भी जीवित है।

दूसरा, संसाधन संबंधी तनाव: जल संसाधन, दीर्घावधि से लंबित अंतर्राज्यीय नदी जल विवाद (कावेरी नर्मदा) और बराबरी के फॉर्मूले के तहत गैर-बराबरी से जूझ रहे राज्यों के लिए क्षतिपूर्ति का मसला। इनके साथ-साथ अन्य मांगों में वृहतर स्वायत्तता और अपने नियंत्रण वाले संसाधनों पर स्वशासन प्रमुख है।

हालांकि ये अभी जीवंत मुद्दे हैं, नयी सदी के संघीय सुधार एजेंडे में जो अन्य प्रमुख मुद्दे जोर पकड़ सकते हैं, वे हैं वित्तीय संसाधनों का पुनरावंटन और वित्तीय प्रणाली का वृहत बदलाव। राज्यों की तुलना में केंद्र सरकार के कर राजस्व में उल्लेखनीय वृद्धि ने उर्ध्य और क्षैतिज दोनों ही रूपों के आवंटन पर ध्यान आकर्षित किया है।

राज्य आधारित दलों की शक्तियों और उनके प्रभाव में वृद्धि केंद्र राज्य संबंधों को संवारने में प्राथमिक तौर पर भूमिका निभाती थी और यह केंद्र में गठबंधन सरकार के रूप में सामने आता था। महत्वपूर्ण रूप से कुछ दलों ने एक राजनीतिक प्रक्रिया के तहत राष्ट्रीय नीतियां बनाने में अपनी भूमिका ज्यादा बढ़ा ली, जो वे सहभागी संघ के औपचारिक संस्थाओं में हासिल नहीं कर पाये थे। इसके प्रभाव स्वरूप संघीय गठबंधन ने उन्हें सहभागी अवसर प्रदान किये हैं, जो उन्हे पूर्व की संस्थाओं जैसे विघटित योजना आयोग और राज्य विकास परिषद और यहां तक कि अंतर राज्यीय परिषद में भी हासिल नहीं थे। यह मुद्दा सिर्फ सलाह का नहीं बल्कि उन क्षेत्रों में वाजिब हितों का भी है।

चुनौतियां अब राज्यों की उन नये तरीके से सहभागिता और सहूलियतों की हैं, ताकि उन्हें राष्ट्रीय नीतियों के कार्यान्वयन के तहत प्रमुख क्षेत्रों जैसे, बिजली, सड़क और बुनियादी नागरिक सुविधाओं के प्रभावी क्रियान्वयन में भागीदार बनाया जा सके। बहुदलीय प्रणाली और राष्ट्रीय शासन में गठबंधन के संदर्भ में यह और भी आवश्यक हो जाता है। हमारी राजनीतिक प्रणाली इसे हासिल करने में कुछ हद तक सक्षम है, लेकिन एक प्रभावी सांस्थिक व्यवस्था का अभी तक कोई विकल्प मौजूद नहीं है।

संघीय लोकतंत्र में लोकतांत्रिक विकास का तर्क शासन में कई प्रयोगों का हिमायती है, बशर्ते वे संविधान के बुनियादी मूल्य और इसके स्वरूपों के प्रति सम्मान रखें। सीमित तौर पर प्रशासनिक तौर तरीकों और तकनीक में यह प्रयोग कुछ हद तक सफल रहा है और राज्यों में स्कूलों में मध्याह्न भोजन और भूमि मूल्य प्रणाली के समुचित व्यवहार देखे जा रहे हैं।

हालांकि राज्यों द्वारा प्रयोगात्मक तरीके से वैकल्पिक रास्तों की तलाश की क्षमताओं को केंद्रीकृत संघीय प्रणाली द्वारा सीमित कर दिया गया है। ज्यादा तल्ख विषय यह है कि राष्ट्रीय या राजनीति आधारित दलों का आचरण राज्यों की क्षेत्रीय पार्टियों ने अख्तियार कर लिया है। उन्होने केंद्रीकृत संघवाद में अपने दावेदारी विकसित कर ली है और बड़े दलों के लघु संस्करण बन गये हैं। कुल मिलाकर वास्तविक रूप में उनके पास विकल्प के नाम पर कुछ नहीं है। ❑

ENGLISH
by
Muntosh Mishra "भारत"
Complete Grammar + Writing Skills
* 7 DAYS' CLASSES FREE
* Vocabulary के लिए आधे घंटे हर दिन
* Practice sets + Previous years' के Questions का solution
* मात्र 3-4 महीने में English की किसी भी Competition के लिए पूर्ण तैयारी
* Printed, updated study materials
* UPSC, PO और SSC के लिए Separate Batches
* English में लिखना सिखाने पर विशेष ध्यान
अगर आपको लगता है कि आपकी English बहुत कमजोर है तो Free trial classes जरूर लें।
Satisfaction नहीं होने पर Fees 45 दिनों में कभी भी वापस
THE WELL™
SANCTUM OF SUCCESS
308, Top Floor, Jyoti Bhawan
In Front of Post Office
Dr. Mukherjee Nagar, Delhi-9
09811141396, 09899324319
YH - 316/2014

भारतीय संघवाद: स्वायत्तता बनाम पृथकता

सौरभ दुबे

आज हम संविधान की क्रियात्मकता और संघीय ढांचे के अंदर स्वायत्तता के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हम कहीं न कहीं इस उक्ति को सही पाते हैं कि संघवाद कोई संस्था नहीं है बल्कि सतत प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के स्वस्थ न होने के कारण पिछले 68 वर्षों में हमने कई तरीके की अलगाववादी प्रवृत्तियों को स्वायत्तता के नाम पर राजनीति और नाजायज मांगों को पनपते देखा

बीसवीं सदी के 5वें दशक के दौरान जब एशिया और अफ्रीका के नवस्वतंत्र राज्य औपनिवेशिक प्रवृतियों से स्वतंत्र हो रहे थे। उस समय भारत पहला नवस्वतंत्र राज्य बना जिसने संसदीय संघीय ढांचे को संविधान सभा में स्वीकार किया। भारत में संघीय व्यवस्था मिश्रित राजनतिक, सामाजिक आंदोलनों की देन थी। औपनिवेशिक समय के कई सामाजिक प्रशासकीय सुधार जो ब्रिटिश शासन की देन रहे, इन्होंने 20वीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में एक राजनीतिक आंदोलन का रूप ले लिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कराची अधिवेशन (1931) मोतीलाल नेहरू कमेटी रिपोर्ट (1928) सप्रू कमेटी रिपोर्ट (1945) भारतीय शासन अधिनियम (1935) भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम (1947) आदि व्यवस्थाओं का संवैधानिक सभा में वर्चस्व रहा और इन्हीं विचारों को व्यवहारिक रूप देते हुए 24 जनवरी 1950 का स्वीकृत संविधान जो 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ, भारतीय शासन व्यवस्था में संघीय व्यवस्था की शुरूआत हुई। संविधान सभा में ड्राफ्ट कमेटी के अध्यक्ष डा. भीमराव अंबेडकर और अंतिरम सरकार के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू आजाद भारत में एकीकृत शासन व्यवस्था के पक्षधर थे किंतु बल्लभभाई पटेल संघीय व्यवस्था के पक्षधर थे। इसके पीछे उनका भारतीय रियायतों में एकीकरण के प्रयास और उसमें आई बाधाओं से रू-ब-रू होना था जो बार-बार विभिन्नताओं को एकता के साथ मिलाकर चलने के प्रयास के मद्देनजर समझना चाहिए।

वास्तव में जब हम संवैधानिक सभा में चले विवादों का अध्ययन करते हैं तब हमें सूक्ष्मता के साथ एक सत्य को प्रतिबिंब मानकर चलना पड़ेगा और वह है ब्रिटिश भारत का विभाजन जिसने नवसृजित संविधान पर सबसे ज्यादा मनोवैज्ञानिक असर डाला और आजादी के 68 वर्षों तक आज की कई विसंगतियों की संवैधानिक स्थितियों के लिए यह विभाजन जिम्मेदार रहा। स्पष्ट तौर पर भारतीय संघवाद का संवैधानिक प्रचालन तथा इसकी क्रियात्मक विसंगति इसका एक ज्वलंत उदाहरण है।

ब्रिटिश शासनकाल के दौरान 1935 के अधिनियम के पहले के सभी कानून मजबूत केंद्रीय शासन को बढ़ावा देने वाले रहे लेकिन 1935 के एक्ट में पहली बार संघवाद के लक्षण सामने आये। संघवाद की संवैधानिक स्थिति को पहली बार बढ़ावा मिला लेकिन भारतीय समाज एवं राजनिति की विभिन्नताओं को समझते हुए ब्रिटिश सरकार संघीय ढांचे की जगह यूनियन शब्द को तरजीह दे रही थी। कैबिनेट मिशन प्लान क्रिप्स प्लान में यूनियन शब्द पर ही जोर दिया गया।

15 अगस्त 1947 के बाद मजबूत केंद्रीय व्यवस्था को अपनाने के पीछे जो तर्क सामने आये उनमें प्रमुखतया राष्ट्रीय सुरक्षा, खाद्यान्न संकट सर्वोपरि थे। दूसरी एक वजह जिसके कारण एकीकृत शासन व्यवस्था को ज्यादा तवज्जो देने के पीछे प्रांतीय प्रतिनिधियों के कमजोर तर्क भी रहे। संपूर्ण भारत में अखिल भारतीय कांग्रेस का वर्चस्व था और उनके जो प्रांतीय प्रतिनिधि थे उनके बीच केंद्रीय नेतृत्व के सामने अपनी स्थिति मजबूत करना प्राथमिक कार्य था। प्रांतीय जिम्मेदारियां या प्रतिनिधित्व गौण रहा। जिसकी वजह से भी संविधान सभा में मजबूत केंद्र की वकालत ज्यादा रही।

दूसरे कुछ विषय नवोदित संविधान की आत्मा बनकर उभरे जिसके कारण संघवाद की भावना को दरकिनार करना पड़ा और जिसके कारण बाद के स्वतंत्र भारत में जातिवाद,

लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के शहीद भगत सिंह सांध्य महाविद्यालय में राजनीति विज्ञान विभाग के सहायक प्राध्यापक हैं। सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर विभिन्न शोध-पत्रों में लगातार लिख रहे हैं। ईमेल: saurabhjnu1981@gmail.com

अलगाववाद, सांप्रदायिकता, तुष्टिकरण के रूप में बाद की पीढ़ियों ने झेला। मूलभूत अधिकार उन्हीं में से एक रहे। संविधान सभा में पं. नेहरू ने मूलभूत अधिकारों की वकालत करते हुए कहा कि अधिकारों की रक्षा का दायित्व केंद्रीय सरकार का है और इन्हें पोषित भी केंद्रीय सरकार ही करेगी।

वास्तव में, जब आज हम संविधान की क्रियात्मकता और संघीय ढांचे के अंदर स्वायत्तता के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हम कहीं न कहीं इस उक्ति को सही पाते हैं कि संघवाद कोई संस्था नहीं है बल्कि सतत प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के स्वस्थ न होने के कारण पिछले 68 वर्षों में हमने कई तरीके की अलगाववादी प्रवृत्तियों को स्वायत्तता के नाम पर राजनीति और नाजायज मांगों को पनपते देखा। संविधान सभा में पं. नेहरू ने कहा था कि संघीय ढांचा किसी प्रशासनिक सुविधा के लिए नहीं है बल्कि यह एक सैद्धांतिक मूल्य है। कोई भी सिद्धांत मानवता के हित में जब तक कार्य करता है तभी तक वह शून्य है अन्यथा वह एक व्यर्थ का तमाशा बन जाता है। सामान्यत: किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का कार्य प्रशासकीय असुविधा को दूर कर प्रतिनिधि शासन प्रणाली को स्थायित्व देना रहता है लेकिन राजनीतिक व्यवस्था की प्रासंगिकता हटाकर एक जुनूनी आग्रह उस व्यवस्था के दुराग्रही होने की प्रक्रिया को रोक नहीं पाती।

संवैधानिक प्रावधानों ने विधिक, प्रशासकीय और वित्तीय व्यवस्थाओं को संविधान में एक मजबूत केंद्रीयकृत प्रणाली को जन्म दिया और उसके बाद आपातकालीन प्रावधानों ने इसे और मजबूत किया। व्यवहारिक तौर पर 1967 तक इस मजबूत केंद्रीयकृत व्यवस्था को कांग्रेस के वर्चस्व ने और पनपने दिया। लोकतंत्र का अंतिम ध्येय हर व्यक्ति, हर संस्था को पूर्णत: स्वायत्तता बनाना है, फिर आखिर क्या वजह रही की स्वतंत्र भारत में स्वायत्तता के विषय को लेकर लोगों में एक अलग भाव ने जन्म ले लिया और ये कब पृथकता के साथ जुड़ती चली गयी। इसे हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

आजाद भारत में स्वायत्त प्रशासन वाले कुछ क्षेत्र हैं जहां की विषम भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए इन्हें कुछ विशेष प्रशासकीय अधिकार दिये गये जैसे बोगेतेड़ सीमावर्ती परिषद कार्बी आंगलोंग स्वायत्त परिषद, उत्तरी कछार पहाड़ी स्वायत्त जिला परिषद असम में, जम्मू और कश्मीर में, लद्दाख स्वायत्त पहाड़ी विकास परषिद करगिल-लेह में, गारो, जयंतिया और खासी पहाड़ी स्वायत्त जिला परिषद मेघालय में, त्रिपुरा जनजाति क्षेत्र स्वायत्त जिला परिषद, चकमा लाल एवं मारा स्वायत्त जिला परिषद मिजोरम में। दार्जीलिंग-गोरखा पहाड़ी परिषद पश्चिम बंगाल में आदि भारत में स्वायत्त क्षेत्र हैं।

बोडोलैंड सीमावर्ती परिषद असम के चार जिलों में नीतियों के क्षेत्र में विधायिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं कार्यकारी शक्तियां इस्तेमाल कर सकती है। इन सभी प्रावधानों को 1995 में भारत सरकार एवं बोडो विद्रोहियों के बीच शांति वार्ता के तहत किया गया था। ये सभी विकास की संरचनाएं कार्बी आंगलोंग स्वायत्त परिषद के अधिकार क्षेत्र में आती हैं। करगिल और लेह लद्दाख उन तीन जिलों में से आते हैं जिन पर लद्दाख स्वायत्त पहाड़ी विकास परिषद का नियंत्रण है। LAHDC का निर्माण 1995 में इस मद्देनजर किया गया था कि लद्दाख के लोग धार्मिक और सांस्कृतिक अंतरों के कारण लेह को एक संघीय शासित क्षेत्र बनाने की मांग कर रहे थे। त्रिपुरा जनजातीय क्षेत्र स्वायत्त जिला परिषद राज्य का एक स्वायत्त परिषद है जो जनजाति के लिये बनाया गया है। दार्जीलिंग गोरखा पहाड़ी परिषद का निर्माण 1988 में गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा की मांग, जो कि एक राज्य के दर्जे के लिये थी, पर हुआ। फिर भी गोरखा पहाड़ी परिषद के पास स्वायत्तता के नाम पर सीमित अधिकार है। असम पुर्नव्यवस्थित (मेघालय) एक्ट 1979 के द्वारा मेघालय को राज्य का दर्जा दिया गया।

भारत में केंद्रीय सरकार ने राज्य की विधानसभा में पूर्ण, अर्धपूर्ण तथा सीमित अधिकार दिये है। ये सारे विशेष अधिकार संविधान के छठी अनूसूची के अनुसार दिये गये हैं। असम, मेघालय, त्रिपुरा, मिजोरम के जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन संविधान की अनु. 224(2) एवं 275(1) के तहत निर्धारित किया गया है जो कि भारतीय एवं क्षेत्रीय सरकार के स्वायत्त जिले स्वायत्त क्षेत्रीय सरकार ताल्लुक रखता है।

सरकारिया सीमित की रिपोर्ट से वास्तव में केंद्र राज्य संबधों में कोई बड़ा बदलाव आने की उम्मीद थी भी नहीं और हुआ भी कुछ ऐसा ही। जिन परिस्थितियों में ये रिपोर्ट आयी उस समय स्वायत्तता के प्रश्न पर विचार करना गौण था। अलगाववादी प्रवृत्तियां जो 1980 के दशकों में पैर फैला रही थी वहां स्वायत्तता को एक दूसरे ही नजरिया से देखने का सिलसिला चल पड़ा था। वास्तव में कोई भी राजनीतिक व्यवस्था विशेषकर प्रतिनिधिक सरकारों में वहां सरकार की कार्यप्रणाली और राजनीतिक पार्टियों की विश्वसनीयता पर निर्भर करती है। संघवाद की मूल अवधारणा ही शक्तियों के विकेंद्रीकरण की भावना पर निर्भर है। भारतीय संविधान ने संघीय ढांचे को चाहे जो रूप दिया हो, लेकिन स्वायत्तता के प्रश्न को आज भारतीय राजनीतिक व्यवस्था जिस स्वरूप से निर्धारित करती है, वह कहीं न कहीं केंद्रीय स्तर पर क्षेत्रीय भावनाओं के साथ एक दोहरेपन का ही सबूत है। भाषायी आधार पर राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया ने राजनीतिक एकीकरण के प्रयासों को ठेस ही पंहुचायी है, जिसके बाद से ही स्वायत्तता की मांग को पृथकता के भय से शाब्दिक तौर पर निरूपित किया गया।

अगर क्षेत्रीयता को हम कांग्रेस पार्टी के सांगठनिक चरित्र के तौर पर देखते हैं तो हमें भारतीय राजनीति का एक अलग ही संयोग देखने को मिलता है। रजनी कोठारी के शब्दों में जिस कांग्रेस पार्टी व्यवस्था को हम देखते हैं उसके कई पड़ाव भारतीय संघवाद की भावना को अलग ही ढंग से प्रभावित करते नजर आते हैं। कांग्रेस पार्टी व्यवस्था जैसे-जैसे केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति अपनाती रही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था दलगत तौर पर उसी अनुपात में विकेंद्रीकृत होती नजर आती है। बल्लभभाई पटेल और काफी हद तक नेहरू युग में भी कांग्रेस पार्टी के सांगठनिक स्तर पर विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति देखने को मिलती है जिनमें जिला कांग्रेस कमेटी के लोग प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सदस्य चुनते थे, और इसी प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सदस्य प्रदेश अध्यक्ष, विधानसभा में दल के नेता और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य चुनते थे। इस कमेटी के सदस्य ही कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य चुनते थे जो कांग्रेस की सबसे प्रभावशाली समिति होती है।

पर नेहरू युग के बाद ये प्रक्रिया लोकतांत्रिक न रहकर केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति का शिकार हो गई। कांग्रेस के अंदर सांगठनिक तौर पर लोकतंत्र निर्देशित हो गया और ठीक इसी के विपरीत भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में क्षेत्रीय मांगों और संभावनाओं ने अपने पैर पसारने शुरू किये। तमिलनाडु, प. बंगाल, ओडिशा, आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र आदि कई राज्यों में नेहरू युग के बाद नये राजनीतिक दल अपना प्रभाव फैलाने लगे जिनका मूल सिद्धांत कांग्रेस विरोध की आड़ में सशक्त केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति को चुनौती देना रहा। भाषा, संस्कृति, विशेष क्षेत्रीय मांगों से स्वायत्तता की मांगों को बढ़ावा मिला। कई राज्यों में ये स्वायत्तता की मांग केवल कुछ

प्रशासनिक अधिकारों की मांगों तक ही सीमित रही जैसे पूर्वोत्तर राज्यों में सरकार, जबकि कुछ जगह इस नई राजनीतिक प्रवृत्ति ने पृथकता की मांग को भी मजबूत किया।

इस कड़ी में हमें दो राज्यों को अलग-अलग विश्लेषित करने की जरूरत है। प्रथम, पंजाब में खालिस्तान आंदोलन की मांग और प्रवृत्ति रही। भाषायी और धार्मिक आधार पर पृथक खालीस्तान की मांग कहीं न कहीं केंद्रीय सरकार की असफलता को ही दर्शाती है। जिसके कारण पंजाब एक दशक तक आंतकवाद की चपेट में रहा। स्वायत्तता की आड़ में पृथकतावादी मानसिकताओं के अवैध तौर पर पालने-पोषने की प्रवृत्ति ने कई निर्दोषों को असामयिक मृत्यु की कगार पर ला दिया था। दूसरा उदाहरण स्वायत्तता के नाम पर पृथकतावादी ताकतों को पालने-पोषने का जम्मू एवं कश्मीर राज्य का है, जो ब्रिटिश भारत के बंटवारे के बाद ही नासूर बना हुआ है। वास्तव में जब हम इस राज्य की भारतीय संघ के अंदर कोई विवेचना करते हैं तब हम तात्कालिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कथित बुद्धिजीवियों के बयानों तक ही सीमित रह जाते हैं और ज्यादा से ज्यादा केंद्र सरकार के अभी तक के प्रयासों को ही समझना चाहते हैं जबकि इस राज्य के बारे में सही में एक शैक्षणिक विवेचना करने की जरूरत है जिसके अभाव में इस राज्य के बारें में कई मिथकों ने जन्म ले लिया। फलस्वरूप जम्मू एवं कश्मीर राज्य का जिस तक आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक एकीकरण होना चाहिए था वह नहीं हुआ।

सर्वप्रथम हमें जम्मू एवं कश्मीर को दो समय अंतराल पर समझना होगा। प्रथम, 1947 के पहले के साम्राज्यवादी भू-राजनीतिक खेल के परिप्रेक्ष्य में इस कुत्सित कूटनीति ने ही भारत के विभाजन का रास्ता निष्कंटक बनाया। अखंड भारत की अंतरराष्ट्रीय सीमा अफगानिस्तान से मिलती थी। अफगानिस्तान सोवियत संघ और भारत के बीच एक पुल का का करता था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय ही एक कुटिल कूटनीति के तहत भारत विभाजन की रूपरेखा तैयार कर ली गयी थी जिससे भारतीय भूक्षेत्र सोवियत संघ से दूर अवश्यंभावी था। जम्मू एवं कश्मीर राज्य इसी कूटनीति का शिकार हुआ। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम में सभी देशी रियासतों को अघोषित तौर पर यह निर्देश था कि या भारत या पाकिस्तान में शामिल हो। शर्त केवल भौगोलिक जुड़ाव था। 1947 के बंटवारे के बाद जब पाकिस्तान के सैनिकों ने कबायलियों के भेष में जम्मू एवं कश्मीर राज्य पर आक्रमण किया तो भारतीय सहायता के लिये महाराज हरिसिंह ने भारत से मदद की गुहार लगाई। भारतीय संघ में शामिल होने के दस्तावेज पर हस्तक्षर के बाद (2 अक्टूबर 1947) भारतीय सेना ने पाकिस्तानी सैनिकों को वीरतापूर्वक खदेड़ना शुरू किया।

यहीं से जम्मू एवं कश्मीर राज्य के बारे में मिथकों का निर्माण शुरू हुआ। प्रमुख रूप से तीन मिथक गढ़े गये स्वायत्ता के नाम पर। पहला, अनुच्छेद-370 जम्मू एवं कश्मीर राज्य को एक विशेष दर्जा देता है। दूसरा, जम्मू एवं कश्मीर का विलय अपूर्ण, सशर्त एवं विवादित है। तीसरा, कश्मीर पूरे जम्मू एवं कश्मीर का प्रतिनिधित्व करता है और यह भारत से स्वतंत्र होना चाहता है। वास्तव में अनुच्छेद 370 भारतीय संविधान में जम्मू एवं कश्मीर राज्य के लिये किया गया अतिरिक्त प्रावधान है। जितनी भी देशी रियासतें थीं उनका भारत में विलय रक्षा, संचार और वैदेशिक संबंध जैसे तीन मुद्दों पर हुआ था। इसके पश्चात् यह तय किया गया कि भारत एक परिसंघ होगा और संविधान निर्माण की प्रक्रिया में सहभागिता रहेगी। रियासतें संघीय संविधान का निर्माण संघीय संविधान सभा द्वारा किया जायेगा। इसे पूरा होने के बाद रियासतें अपनी संविधान सभाओं द्वारा इसका अनुमोदन कर इसे लागू कर सकती थीं।

भारतीय संविधान सभा द्वारा 1949 में अपना कार्य पूर्ण किये जाने के समय केवल तीन राज्यों मैसूर, त्रावणकोर-कोचीन और सौराष्ट्र में ही संविधान सभा का गठन हो सका। तब प्रश्न उठा कि भारतीय संविधान का अनुमोदन प्रत्येक राज्य द्वारा किस तरह किया जाये। यह निर्णय लिया गया कि शासक एक उद्घोषणा करके संघीय संविधान को स्वीकृत कर सकेगा। राज्यों के लिए भी एक संविधान तैयार कर अनु. 298 के रूप में संघीय संविधान में ही समाविष्ट कर लिया गया।

उप प्रधानमंत्री सरदार पटेल ने अक्टूबर में संविधान सभा में घोषणा की कि वे सभी राज्य जिन्होंने अभी तक संविधान सभाओं का गठन नहीं किया है। उनकी प्रथम निर्वाचित विधानसभायें ही उनकी संविधान सभा मानी जाएंगी। वह अगर संशोधन के लिए कुछ प्रस्ताव रखेंगी तो उनपर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाएगा। इसके बाद वह संघीय संविधान को अपने क्षेत्र में लागू कर सकेंगी।

जम्मू एवं कश्मीर में इस समय कुछ चल रहा था। इसके कुछ हिस्सों पर पाकिस्तान का अवैध कब्जा हो चुका था। इसके चलते राज्य की विधानसभा का गठन संभव नहीं था। इसके चलते संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में भी मामला चल रहा था और वहां पर हमने कुछ वादे भी कर दिये थे। भारत ने कुछ पूर्व शर्तों के साथ सुरक्षा परिषद में जनमत संग्रह कराने की प्रतिबद्धता व्यक्त कर दी थी जनमत संग्रह के बिना संविधान को लागू किये जाने से वचनभंग की स्थिति पैदा हो जाती तब तक हमारे पास केवल एक अंतरिम प्रणाली थी। राज्य के रीजेंट डॉ. कर्ण सिंह, जो कि राज्य में शासकीय मुखिया भी थे ने 25 नवंबर को एक उद्घोषणा कर संघीय संविधान को स्वीकृति प्रदान कर दी। किंतु लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था प्रजा सभा के मृतप्राय होने और संविधान सभा के गठन का कोई भी अवसर न होने के कारण भारतीय संविधान को जम्मू एवं कश्मीर में लागू करने के लिए एक अंतरिम व्यवस्था के रूप में संघीय संविध ान सभा के अनु. 370 के रूप में एक अस्थाई संक्रमणीय प्रावधान का निर्माण किया। गोपाल स्वामी आयंगर ने एक मसविदा तैयार कर जिसे 306 ए के नाम से जाना जाता है, भारतीय संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसके उपबंध थे

(क) महाराजा हरि सिंह द्वारा की गई 5 मार्च 1948 की उद्घोषणा द्वारा परिभाषित राज्य सरकार की सहानुभूति और सलाह से भारतीय संविधान में प्रस्तुत हिस्सों को जम्मू एवं कश्मीर में तुरंत लागू किया जायेगा।

(ख) संघीय संविधान से संबंधी मुद्दों पर विचार-विमर्श करने के लिए एक सभा का गठन किया जायेगा।

(ग) संविधान सभा को पूरी तरह स्वीकृत और लागू किये जाने के बाद तथा संविधान सभा अनुमोदित किये जाने के बाद राष्ट्रपति अनु. 370 को एक आदेश जारी कर निरस्त कर देंगे अथवा अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन करेंगे।

जम्मू एवं कश्मीर संविधान सभा का कार्य 1957 में पूर्ण हुआ, उसके बाद अनु. 370 को हटना चाहिए था, पर यह भारत में आज तक जारी समझौतों व दुभाग्यपूर्ण राजनीति का सबसे खराब उदाहरण है और भ्रामक प्रचार के कारण इसे विशेष उपबंध के तौर पर प्रचारित किया गया।

2013 तक भारतीय संविधान के मात्र 260 अनुच्छेदों को जम्मू एवं कश्मीर में लागू किया जा सका है। भारतीय संविधान में 444 अनुच्छेद हैं, 22 धाराएं हैं, 13 अनुसूचियां हैं और 118

संशोधन हुए हैं। अनुच्छेद 370 का दुरुपयोग इससे ही साबित होता है कि अनेक लोक कल्याणकारी प्रावधान जम्मू एवं कश्मीर में केवल इसलिए लागू नहीं किये गये क्योंकि वे राज्य सरकार को जवाबदेह ठहराते हैं, इसके विपरीत अनु. 370 की आड़ में कुछ प्रावधान ऐसे भी जोड़ दिये गये जो भारतीय संविधान की मूल भावना से मेल नहीं खाते हैं।

दूसरा, भारत में जम्मू एवं कश्मीर का विलय संपूर्ण और अंतिम है, जम्मू एवं कश्मीर राज्य द्वारा भी उन्हीं नियमों विनियमों और कागजी कार्यवाही का पालन किया गया था जिनका अनुसरण मैसूर, ग्वालियर, पटियाला, कोचीन और अन्य सभी रियासतों द्वारा किया गया तकनीकी और संवैधानिक दृष्टि से इस पर कोई विवाद नहीं है, विलय की निर्धारित प्रक्रिया को अन्य रियासतों की भांति ही जम्मू एवं कश्मीर के द्वारा भी पूरा किया गया और उसे तत्कालीन गवर्नर जनरल ने स्वीकार किया। तीसरा, जब हम जम्मू एवं कश्मीर के बारे में कोई चर्चा करते हैं तो वास्तव में वो चर्चा केवल कश्मीर घाटी तक ही सीमित हो जाती है। जम्मू एवं कश्मीर तीन क्षेत्रों को मिलाकर बना हुआ राज्य है। जम्मू क्षेत्र जो हिन्दु बहुल क्षेत्र है कश्मीर घाटी जो मुस्लिम बहुल क्षेत्र है लद्दाख जो बौद्ध बहुल क्षेत्र है एक लाख एक हजार वर्ग कि.मी. के क्षेत्र में 86,000 वर्ग कि.मी. का क्षेत्र स्वायत्तता के नाम पर राज्य में बंद का आयोजन नहीं करता 22 जिलों में केवल 5 जिले हड़ताल, उपद्रव करते हैं 17 जिले शांत हैं, तब उसके बाद इन 5 जिलों की आवाज बाकी के 17 जिलों की भी आवाज कैसे बन जाती है, यही केन्द्र सरकार की स्वायत्तता के नाम पर नाजायज मांग करने वालों के पक्ष में खतरनाक तुष्टिकरण है।

सामान्यतया संघीय ढांचे में स्वायत्तता की मांग उठाना स्वाभाविक है पर कोई भी मांग किस परिस्थिति में और क्यों उठायी गयी है, ये समझना जरूरी होता है। स्वतंत्र भारत में प्रशासकीय सुधारों की जो एक अनवरत प्रक्रिया चली उसमें हमें एक अलग दृष्टिकोण देखने को मिलता है। क्षेत्रीय विषमताओं और विशेषकर भौगोलिक एवं आर्थिक को सही मद्देनजर से न देखने की प्रवृत्ति। कोई भी आर्थिक विकास का स्वरूप एकीकृत भारत के मद्देनजर लागू हुआ नही माना जा सकता। क्या वजह है कि पश्चिमी और दक्षिणी भारत में में आर्थिक विकास की जो गति हमें देखने को मिलती है वह पूर्वी भारत में नहीं मिलती। वास्तव में संसाधनों के एकीकरण की जो प्रवृत्ति हमें भारत में केंद्रीय सरकार की योजनाओं में मिलती है, वह और कहीं नहीं। राजनीतिक संघवाद पर प्रक्रियात्मक जोर जितना रहा है, जरूरत है कि आर्थिक संघवाद पर भी उतना ही जोर रहे। स्वायत्तता को आर्थिक संघवाद के नजरिए से देखने की जरूरत है, नहीं तो स्वायत्तता को हम पृथकता के नजरिये से ही देखते रहेंगें। केंद्र सरकार आर्थिक, सांस्कृतिक संघवाद की प्रवृत्ति को अगर सही दिशा देने में सफल रहती है जो निश्चित तौर पर हम राजनीतिक स्वायत्तता के नाम पर छले जाने से बचे रहेंगें। ❑

संदर्भ:

भारतीय संघवाद - एक परिचय: महेन्द्र प्रसाद सिंह
भारत में लोक प्रसाशन: पद्मा रामचन्द्रन
भारत में राज्य एवं राजनीति: पार्था चटर्जी
भारतीय संविधान: ग्तेनविल आस्टिन
समकालीन भारत: अचिन विनायक एवं राजीव भार्गव
जम्मू-कश्मीर एक अवलोकन: आशुतोष भटनागर
जम्मू-कश्मीर, समस्याओं का मिलन: जम्मू-कश्मीर अध्ययन केन्द्र।
http://en.wipipidia.org/wihi/meghalaya
http://en.wipipidia.org/wihi autonomous_ vefion_of_india
भारतीय संविधान: डी डी बसु

YH - 315/2014

विशेष राज्य की मांग और सियासत

अरविंद जयतिलक

संभव नहीं है कि केंद्र सरकार एक साथ देश के सभी पिछड़े राज्यों को विशेष राज्य का दर्जा दे। पिछड़े राज्यों को तरक्की के लिए अपने पिछड़ेपन के मूल कारणों को तलाश कर उसका निदान ढूंढना होगा। वे पिछड़े इसलिए हैं कि वहां विकास नहीं हुआ। किसी भी राज्य के विकास के लिए पारदर्शिता, ईमानदारी और प्रभावकारी कार्यसंस्कृति जरूरी है। गौर करें तो सभी पिछड़े राज्य कृषि प्रधान हैं। अगर वे कृषि में वैज्ञानिक तकनीकी, अधिक उत्पादन, किसानों के उत्पादों को समुचित मूल्य व भारी निवेश पर ध्यान देते हैं तो राज्यों की तस्वीर बदल सकती है

अगर किसी राज्य की पहचान उसका रुग्ण होना हो और उस आधार पर उसे विशेष राज्य का दर्जा दिए जाने की मांग उठे तो नि:संदेह यह मांग विकास और उसके मापदंडों की परिधि से हटकर अस्मितावादी आकर्षक राजनीति का रूप ले लेती है। विगत कुछ वर्षों से बीमारू राज्यों में शुमार बिहार समेत अन्य पिछड़े राज्यों द्वारा विशेष राज्य का दर्जा दिए जाने की मांग के पीछे का सच भी यही है, जिसमें विकास की चिंता कम और राजनीतिक लाभ की फिक्र ज्यादा है। हालांकि पिछड़े राज्यों का तर्क है कि केंद्र से उनको पर्याप्त आर्थिक मदद नहीं मिल रही है जिसकी वजह से विकास की दौड़ में वे पिछड़े हैं। अगर उन्हें भी विशेष राज्य का दर्जा मिले तो विकास की गाथा रच सकते हैं।

वस्तुत: राज्यों का पिछड़ापन और विशेष राज्य का दर्जा दो अलग विषय हैं। दोनों को एक फ्रेम में रखकर उसकी मीमांसा अनुचित है। राज्य के विकास और पिछड़ेपन का कोई एक कारण नहीं होता। जहां तक राज्यों को केंद्रीय अनुदान का सवाल है तो उसके नियम हैं। राज्य योजनाओं के लिए केंद्रीय सहायता के तीन घटक हैं। 1-गाडगिल फार्मूले के अनुसार राज्यों को सामान्य केंद्रीय सहायता। 2-विशेष व अन्य कार्यक्रमों के लिए अतिरिक्त (एटीए) में एआईबीपी, जेनएनएनयूआएम, बीआरजीएफ, आरकेवीवाई शामिल हैं, के अलावा सीमा क्षेत्र विकास कार्यक्रम (एससीए), पहाड़ी क्षेत्र विकास कार्यक्रम (एचएडीपी) एवं पूर्वोत्तर परिषद के लिए विशेष केंद्रीय सहायता दी जाती है। इसके अलावा केंद्र द्वारा राज्यों को बाह्य सहायता (एईपीएस) कार्यक्रमों के लिए भी केंद्रीय सहायता दी जाती है। राजस्व वितरण के मामले में केंद्र का राज्यों पर पर्याप्त नियंत्रण है। केंद्र की आय का स्रोत भी राज्यों की अपेक्षा अधिक है। किंतु कल्याणकारी योजनाओं के कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व राज्यों पर अधिक है और उसके लिए उन्हें अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए केंद्र द्वारा वसूले गए करों से हुई आय की पर्याप्त मात्रा निश्चित अनुपात में राज्यों को दी जाती है।

राज्यों को दी जाने वाली रकम वित्त आयोग की सिफारिश पर दी जाती है। एक वर्ष में राज्यों को दिए जाने वाले कुल अनुदान का 30 प्रतिशत वित्त आयोग के अधिकार में है जबकि 70 प्रतिशत वैवेकिक अनुदान है जो योजना आयोग की सिफारिश पर राज्यों को दिया जाता है। इसी उद्देश्य से योजना आयोग की स्थापना (जिसे अब नीति आयोग बना दिया गया है) भी की गयी, जो यह तय करता है कि किस राज्य को केंद्र से कितना धन दिया जाना चाहिए।

तीसरी पंचवर्षीय योजना तक केंद्र के पास राज्यों को अनुदान देने का कोई निश्चित फार्मूला नहीं था। 1968 में इसके लिए राष्ट्रीय विकास परिषद में मांग उठी। लिहाजा चौथी पंचवर्षीय योजना में विभिन राज्यों के मध्य क्षेत्रीय असंतुलन दूर करने के लिए और योजनाओं के अंतर्गत केंद्र द्वारा राज्यों को वित्तीय सहायता देने हेतु केंद्र सरकार ने एक समिति का गठन किया जिसके अध्यक्ष धनंजय रामचंद्रा गाडगिल बनाए गए, जो उस समय योजना आयोग के उपाध्यक्ष थे। सन् 1969 में पांचवें वित्त आयोग ने केंद्रीय योजनागत मदद के लिए गाडगिल फार्मूले को अपनाया। इस फार्मूले के तहत 1969 में स्टेट प्लान के लिए केंद्रीय सहायता राशि आवंटन की रूपरेखा बनी कि राज्यों को केंद्रीय सहायता की राशि कैसे-कैसे मिलेगी।

लेखक सामाजिक विज्ञान के अध्यापक हैं। दर्शनशास्त्र एवं इतिहास विषयों में उच्च शिक्षा पाने के बाद शिक्षण एवं लेखन में सक्रिय अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय विषयों पर अग्रणी पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लेखन एवं सामाजिक विषयों पर सेमिनार में सशक्त उपस्थिति। ईमेल: arvindjaiteelak@yahoo.com

इस फार्मूले के मुताबिक 60 प्रतिशत राशि जनसंख्या के आधार पर, 10 प्रतिशत राशि प्रति व्यक्ति आय (राष्ट्रीय औसत से कम होने की शर्त) पर, 10 प्रतिशत राशि राज्य की अपनी विशेष समस्या के आधार पर, 10 प्रतिशत राशि सिंचाई और बिजली परियोजनाओं के लिए है और 10 प्रतिशत कर प्रयास के लिए निर्धारित है। इस फार्मूले के तहत ही तीन राज्यों असम, नगालैंड, जम्मू और कश्मीर को सबसे पहले विशेष राज्य का दर्जा दिया गया। मौजूदा समय में विशेष राज्य का दर्जा प्राप्त राज्यों की संख्या 11 है। ये राज्य हैं- नगालैंड, सिक्किम, त्रिपुरा, मिजोरम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, असम, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, जम्मू और कश्मीर। बाद में कई राज्यों द्वारा इस फार्मूले में संशोधन की मांग पर 1980 में फार्मूले में संशोधन किया गया। इसमें प्रतिव्यक्ति आय के साथ चालू परियोजनाओं को मिलाकर उनका कुल भार 20 प्रतिशत कर दिया गया। इस संशोधित फार्मूले से सहायता छठीं, सातवीं और 1990-91 की वार्षिक योजनाओं को दी गई।

1990 में दूसरी बार इस फार्मूले में राष्ट्रीय विकास परिषद ने कुछ राज्यों की मांग के आधार पर संशोधन किया जिसके मुताबिक 55 प्रतिशत राशि जनसंख्या के आधार पर, 25 प्रतिशत राशि प्रतिव्यक्ति आय (विचलन रीति एवं दूरी की विधि शामिल करके), 5 प्रतिशत राशि वित्तीय प्रबंध तथा विशेष विकास समस्याओं के आधार पर 15 प्रतिशत राशि तय हुई। सितंबर, 1991 में योजना आयोग ने आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष (मौजूदा समय में देश के राष्ट्रपति) प्रणव मुखर्जी की अध्यक्षता में गाडगिल फार्मूले पर पुनः विचार करने के लिए समिति का गठन किया। मुखर्जी समिति के सुझाव को राष्ट्रीय विकास परिषद ने स्वीकार लिया। मसलन इस समिति ने 60 प्रतिशत राशि राज्य की जनसंख्या (1971 की जनगणना के आधार पर) के आधार पर, 25 प्रतिशत राशि प्रति व्यक्ति आय (20 प्रतिशत विचलन रीति और 5 प्रतिशत दूरी की विधि), 7.5 प्रतिशत राशि निष्पादन (कर प्रयास, वित्तीय प्रबंध और राष्ट्रीय उद्देश्यों के रूप में) तथा 7.5 प्रतिशत राशि राज्य विशिष्ट विकास समस्याओं के लिए निर्धारित हुई।

मुखर्जी फार्मूले का प्रयोग 8वीं योजना के अंतर्गत विशेष श्रेणी से इतर राज्यों के लिए केंद्रीय सहायता के वितरण हेतु किया जाना निश्चित किया गया जबकि विशेष श्रेणी के राज्यों की योजनाओं के लिए संशोधित गाडगिल फार्मूले के अनुरूप ही एकमुश्त राशि के हस्तांतरण का निर्णय लिया गया। गौरतलब है कि विशेष दर्जा प्राप्त सभी राज्य पहाड़ी हैं और पिछड़ेपन की सभी शर्तों को पूरा करते हैं। विशेष राज्य का दर्जा दिए जाने के दो आधार बनाए गए। एक, वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय का मानक और दूसरा योजना आयोग का। वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय के अनुसार उन्हीं राज्यों को पिछड़ा माना गया जिनका कमजोर संसाधन आधार और कमजोर अधिसंरचना है, जो भौगोलिक अलगाव और अगम्य भू-क्षेत्र में स्थित हैं जबकि योजना आयोग की शर्तों के मुताबिक उन राज्यों को पिछड़ा माना गया जो पहाड़ी क्षेत्र में स्थित हैं, जिनका निम्न जनसंख्या घनत्व है, जिनकी स्थिति पड़ोसी देशों की सीमाओं पर है और जिनकी राजकीय वित्त व्यवस्था कमजोर है। केंद्र सरकार द्वारा संसाधनों के वितरण में विशेष दर्जा वाले राज्यों को अतिरिक्त आर्थिक मदद दी जाती है, ताकि आर्थिक असमानता और क्षेत्रीय असंतुलन दूर किया जा सके। इन राज्यों को 90 प्रतिशत केंद्रीय अनुदान और शेष 10 प्रतिशत ब्याजमुक्त कर्ज प्राप्त होता है। इसके अलावा उन्हें उत्पाद शुल्क में भी रियायत मिलती है ताकि वहां पूंजी निवेश हो सके। योजना व्यय के लिए केंद्र सरकार की सकल बजट योजना का 30 प्रतिशत हिस्सा भी उन्हें प्राप्त होता है। इन राज्यों में उद्योग लगाने के लिए उद्योगपतियों को भारी प्रोत्साहन मिलता है। 12 वें वित्त आयोग ने सिफारिश की थी कि केंद्र सरकार को सिर्फ अनुदान देना चाहिए और यह राज्यों के ऊपर छोड़ देना चाहिए कि वे बाजार से कितना कर्ज लेना चाहते हैं। तब से विशेष श्रेणी के राज्यों के लिए 90 प्रतिशत अनुदान और 10 प्रतिशत ब्याजमुक्त कर्ज का फार्मूला यथावत है। सामान्य श्रेणी के राज्यों के लिए ऋणों और अनुदानों के बीच वही अनुपात है, जिस अनुपात में वह केंद्र को प्राप्त होता है।

हालांकि 13वें वित्त आयोग ने विशेष श्रेणी के राज्यों को अतिरिक्त संसाधन सहायता उपलब्ध कराने की सिफारिश के साथ ही यह भी सुझाव दिया कि केंद्र को 30.5 प्रतिशत के बजाए 32 प्रतिशत राशि राज्यों की झोली में डालनी चाहिए। उसने केंद्र से कुल राजस्व से राज्यों को मिलने वाला हिस्सा भी 38 प्रतिशत से बढ़ाकर 39.5 प्रतिशत किए जाने की भी शिफारिश की। पर गौरतलब यह कि बात चाहे विशेष दर्जा प्राप्त राज्यों की हो या अन्य राज्यों की सभी आर्थिक बदहाली के संकट में हैं। विशेष दर्जा प्राप्त राज्यों का औद्योगिक राज्य बनने का सपना पूरा नहीं हो पाया है। असम, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर तथा जम्मू और कश्मीर समेत अन्य विशेष दर्जा प्राप्त राज्यों पर भारी कर्ज है। तीन पहाड़ी राज्यों जम्मू और कश्मीर, उत्तराखंड और हिमाचल प्रदेश में औद्योगिक विकास के लिए कई योजनाएं बनीं। निवेशकों को आकर्षित करने तथा रोजगार सृजित करने के लिए टैक्स में भारी कमी की गयी। दूसरे उपायों की भी घोषणा हुई लेकिन परिणाम सकारात्मक नहीं रहे। योजना आयोग ने 2013 में इन राज्यों को जब विकास की कसौटी पर कसा तो तस्वीर उत्साहजनक नहीं दिखी। निवेशक टैक्स छूट का फायदा उठाने में तो सफल रहे लेकिन ये राज्य, रोजगार सृजित करने में विफल रहे। राज्य सरकारों और स्थानीय प्रशासन की सुस्ती की वजह से कई निवेशकों ने अपना कारोबार समेट लिया। नतीजा राज्य में आधारभूत ढांचा विकसित नहीं हो सका। ऐसे में यह धारणा पालना कि विशेष राज्य का दर्जा मिलने मात्र से राज्य की समस्याएं छूमंतर हो जाएंगी और राज्य तरक्की की छलांग लगा लेगा संभव नहीं। ऊंचा विकास लक्ष्य हासिल करने के लिए राज्यों को सबसे पहले भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाना होगा और साथ ही आर्थिक अनुशासन तथा कानून-व्यवस्था भी दुरुस्त करना होगी।

वैसे भी संभव नहीं है कि केंद्र सरकार एक साथ देश के सभी पिछड़े राज्यों को विशेष राज्य का दर्जा दे। पिछड़े राज्यों को तरक्की के लिए अपने पिछड़ेपन के मूल कारणों को तलाश कर उसका निदान ढूंढना होगा। वे पिछड़े इसलिए हैं कि वहां विकास नहीं हुआ। किसी भी राज्य के विकास के लिए पारदर्शिता, ईमानदारी और प्रभावकारी कार्यसंस्कृति जरूरी है। गौर करें तो सभी पिछड़े राज्य कृषि प्रधान हैं। अगर वे कृषि में वैज्ञानिक तकनीकी, अधिक उत्पादन, किसानों के उत्पादों को समुचित मूल्य व भारी निवेश पर ध्यान देते हैं तो राज्यों की तस्वीर बदल सकती है। इन राज्यों को व्यापार एवं होटल, उद्योग, सेवा क्षेत्र, बैंकिंग एवं बीमा इन सभी क्षेत्रों में निवेश को आकर्षित करना होगा।

गुजरात, मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ समेत कई ऐसे राज्य हैं जिन्हें विशेष राज्य का दर्जा हासिल नहीं है, फिर भी विकास का ऊंचा लक्ष्य हासिल करने में सफल रहे। जबकि

इसके उलट विशेष राज्य का दर्जा प्राप्त कई राज्य आर्थिक बदहाली के कगार पर हैं। अगर बिना प्रयोजन विशेष राज्य के दर्जे की शर्तों में बदलाव हुआ तो उसके गंभीर कुपरिणाम उन राज्यों को भुगतने होंगे जो आर्थिक अनुशासन, विधिक सुशासन और सतत विकास के बूते ऊंची दर वृद्धि हासिल किए हैं। बदलाव का नतीजा यह भी होगा कि जिन राज्यों को अभी ज्यादा आर्थिक मदद मिल रही है उनमें कटौती होगी और पिछड़ेपन के शिकार राज्यों को उपकृत किया जाएगा। यह एक किस्म से अन्याय जैसा होगा। बिहार एक दशक से विशेष राज्य का दर्जा दिए जाने की मांग कर रहा है। फरवरी 2013 में वित्तमंत्री पी चिदंबरम ने लोकसभा में अपने बजट भाषण में बिहार के पिछड़ेपन की चर्चा करते हुए कहा कि 'पिछड़ेपन को निर्धारित करने वाले वर्तमान मापदंड पहाड़ी क्षेत्र, आबादी का घनत्व और अंतर्राष्ट्रीय सीमा की लंबाई है, पर इसके लिए प्रति व्यक्ति आय, साक्षरता तथा अन्य मानव विकास सूचकांकों में राष्ट्रीय औसत से पिछड़ापन को आधार बनाना ज्यादा प्रासंगिक होगा। इसलिए मैं नए मापदंडों को शामिल करने का प्रस्ताव करता हूं जो भविष्य की योजना और कोष हस्तांतरण के आधार होंगे।'

26 सितंबर 2013 को रघुरामराजन समिति की रिपोर्ट पेश हुई जिसमें बिहार एवं अन्य पिछड़े राज्यों को विशेष दर्जा दिए जाने का सुझाव दिया गया। हालांकि इसमें विशेष राज्य का दर्जा जैसा शब्द नहीं था लेकिन बिहार को देश के दस सबसे कम विकसित राज्यों में शुमार किया गया। बता दें कि मई 2013 में वेंद्र सरकार ने आर्थिक सलाहकार रघुरामराजन (अब आरबीआई के गवर्नर) की अध्यक्षता में राज्यों को पिछड़ा क्षेत्र अनुदान निधि के मदों से आवंटन हेतु समेकित विकास सूचकांक के निर्माण के लिए एक छः सदस्यीय समिति का गठन किया। शैबाल गुप्ता, भरत रामास्वामी, नजीब जंग, नीरजा जी जायल और तूहीन पांडे इस समिति के सदस्य थे। समिति ने सितंबर माह में वित्त मंत्रालय को सौंपी गयी रिपोर्ट में राज्यों को धन उपलब्ध कराने के लिए बहुआयामी सूचकांक की नयी प्रणाली अपनाने का सुझाव दिया। अभी कुछ कहना मुश्किल है कि नई सरकार इस सुझाव पर अमल करेगी या नहीं।

विशेष राज्य का दर्जा के सवाल पर अर्थशास्त्रियों की राय भिन्न-भिन्न है। अर्थशास्त्री गोविंद भट्टाचार्य ने इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली (4 मई, 2013, शीर्षकः स्पेशल कैटेगरी स्टेट्स') में लिखा है कि 'विशेष राज्य का दर्जा दिए जाने के जो भी मानक हैं, बिहार उन पर खरा नहीं उतरता। बिहार का पिछड़ापन भौगोलिक कमियों के कारण नहीं है, बल्कि अतीत की खराब गवर्नेंस के कारण है। खराब गवर्नेंस के कारण दर्जा नहीं मिल सकता। ऐसे तो कई राज्य इसमें आ जाएंगे।' वैसे भी विशेष राज्य का दर्जा देने के लिए जो गाडगिल फार्मूला तैयार किया गया था, उसमें तीन की जगह 11 राज्य आ गए हैं, जबकि योजना राशि में कोई वृद्धि नहीं हुई है।

1 अप्रैल 2012 को प्रधानमंत्री डा. मनमोहन सिंह के सलाहकार सैम पित्रोदा ने पटना में एक संवाददाता सम्मेलन में बिहार को विशेष राज्य का दर्जा दिए जाने के सवाल पर कहा कि 'बिहार को विशेष राज्य का दर्जा दिए जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यहां आधारभूत संरचना की कमी नहीं है और वह अपने दम पर विकास करने की क्षमता रखता है।' उन्होंने यह भी कहा कि 'पश्चिम बंगाल, असम, केरल और बिहार सहित अन्य राज्य भी विशेष सहायता की मांग कर रहे हैं, जो कि केंद्र के लिए संभव नहीं है, क्योंकि उसकी भी अपनी सीमा है।' 4 फरवरी, 2013 को योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलूवालिया राजगीर में अंतर्राष्ट्रीय नालंदा विश्वविद्यालय के मेंटर ग्रुप की होने वाली बैठक में भाग लेने से पहले पटना में कहा कि बिहार को विशेष राज्य का दर्जा नहीं दिया जा सकता। बिहार इस दर्जे की कसौटी पर नहीं उतरता है। वैसे सरकार बीजीआरएफ (बैकवार्ड रिजन्स ग्रांट फंड) के जरिए बिहार एवं अन्य राज्यों को विशेष पैकेज दे सकती है।'

बिहार जैसे राज्य के पिछड़ेपन का एक कारण उसका वित्तीय कुप्रबंधन भी है। वह केंद्रीय मदद को खर्च नहीं कर पा रहा है। वित्तीय वर्ष 2012-13 के 'राज्य का वित्त' पर कैग की रिपोर्ट उसे कठघरे में खड़ा करती है। अर्थशास्त्री शैबल गुप्ता (सदस्य सचिव एशियन डेवलपमेंट रिसर्च इंस्टीट्यूट आद्री, पटना) के मुताबिक राज्य केंद्र से ज्यादा पैसा मिले इसकी मांग तो करता है लेकिन उपलब्ध धनराशि को खर्च करना उसके लिए बड़ी चुनौती है। अगर सरकार उपलब्ध धनराशि का 75 फीसदी खर्च करे तब भी बड़ी उपलब्धि होगी (राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप 16 मार्च, 2013)।

ऐसे में सवाल वाजिब है कि फिर बिहार को विशेष राज्य का दर्जा क्यों मिले और गाडगिल फार्मूले में बदलाव क्यों हो? गौरतलब है कि बिहार सरकार अरसे से गाडगिल फार्मूले में बदलाव की मांग कर रही है। जुलाई, 2013 में बिहार के वित्तमंत्री ने गाडगिल फार्मूले के आधार में बदलाव की जरूरत बतायी और कहा कि राज्यों की मदद के लिए 2011 की जनगणना को आधार बनाया जाए न कि 1971 के आंकड़ों को। दरअसल इस मांग के पीछे का मकसद यह है कि 2011 की जनगणना आधार बनी तो बिहार को मिलने वाली राशि स्वतः बढ़ जाएगी। इसलिए कि गाडगिल फार्मूले के तहत सर्वाधिक 60 प्रतिशत धनराशि जनसंख्या के आधार पर ही दी जाती है। दिसंबर 2012 में बिहार के मुख्यमंत्री रहे नीतीश कुमार ने भी प्रधानमंत्री डा. मनमोहन सिंह को पत्र लिखकर गाडगिल फार्मूले में संशोधन का अनुरोध किया और संशोधन का दायित्व चौदहवें वित्त आयोग को सौंपने का सुझाव दिया।

योजना आयोग का स्थान अब नीति (नेशनल इंस्टीट्यूशन फॉर ट्रांसफार्मिंग इंडिया) आयोग ने ले लिया है। इसके बाद शायद विषेष राज्य के दर्जे के लिए हो रही दबाव की राजनीति पर लगाम लग सके। कारण, उसके गवर्निंग काउंसिल में सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों के अलावा केंद्रशासित प्रदेशों के उपराज्यपाल शामिल हैं। ऐसे में सत्ताधारी क्षत्रपों को अब केंद्र पर वाजिब आर्थिक हक न देने का आरोप लगाकर विशेष राज्य का दर्जा और स्पेशल पैकेज की मांग पर सियासत करना आसान नहीं होगा। हालांकि देश के प्रख्यात संविधानविद् सुभाष कश्यप का कहना है कि कोई जरूरी नहीं कि नीति आयोग के गठन से विशेष राज्य का दर्जा की मांग थमेगी। यह देखना जरूरी होगा कि नीति आयोग में राज्यों की भागीदारी कितनी होती है और वह किस तरह काम करता है। ❑

संदर्भः

http://www.epw.in/ejournal/show/1/_/2950
http://www.simplydecoded.com/2013/05/06/3108/
http://www.rashtriyasahara.com/epapermain.aspx?queryed=k17&eddate=k03/16/2013
http://www.bbc.co.uk/hindi/search/?q=k27 20june 202012
http://saindia.gov.in/english/home/our_products/audit_report/Government_Wise/union_audit/recent_reports/union_performance/2013/Civil/Report_6/Report_6.html
http://finance.bih.nic.in/Documents/Reports/Economic-Survey-2013-EN.pdf
http://www.jagranjosh.com/current-affairs/raghuram-rajan-panel-submitted-report-on-criteria-for-special-category-status-to-government-1380193558-1
http://en.wikipedia.org/wiki/Gadgil_formula

डिजिटल इंडिया कार्यक्रम लोक प्रशासन सुधार की एक अनुकरणीय पहल

योगेश के. द्विवेदी
नृपेन्द्र पी.राणा
एंटोनिस सी. सिमिन्टिरस
बनितालाल

अगर यह कार्यक्रम अपेक्षित परिणाम प्राप्त करता है तो नयी अर्थव्यवस्था में भारत सफल होने तथा सकारात्मक विकास को क़ायम रखने की एकदम सही स्थिति में होगा, जो भारत की वैश्विक प्रतिस्पर्धात्मकता को बढ़ाने में एक निर्णायक कारक है। भारत के लिए भविष्य, जैसा कि डीआईपी का मानना है, पूरी तरह सुनहला है

संचार सूचना और प्रौद्योगिकी (आईसीटी) द्वारा सक्षम लोक प्रशासन सुधार को लेकर तर्क दिया जाता है कि इसमें विभिन्न हितधारकों के लिए अनेक लाभ और अवसर प्रदान करने की बेहतरीन संभावना है (द्विवेदी, 2013)। इस तरह के लाभ के उदाहरण हैं: दक्षता के मामले में सार्वजनिक संगठनों का रूपांतरण; जवाबदेही; प्रभावोत्पादकता; पारदर्शिता; लालफ़ीताशाही में न्यूनता; बेहतर संचार तथा समन्वय तथा अधिक महत्वपूर्ण कि यह किसी समय और कहीं भी नागरिक केन्द्रित आईसीटीसक्षम सरकारी सेवा का वितरण कर सकता है और वहां तक उसकी पहुंच बना सकता है (द्विवेदी, 2013)।

हालांकि 1990 के दशक के उत्तरार्ध के दौरान भारत ने ई-सरकार के रूप में इस तरह के सुधार की शुरुआत की, जिसने 2006 में राष्ट्रीय ई-शासन योजना (एनईजीपी) के प्रारंभ के साथ आगे चलकर अपनी रफ्तार पकड़ ली। अब भी विश्व ई-सरकार विकास की सूची (संयुक्त राष्ट्र ई-सरकार सर्वेक्षण, 2014) में भारत की जगह 117वीं है और यह अब भी बहुत पीछे है। योजना के पूर्व के अंक (2013) में द्विवेदी द्वारा लिखे गए आलेख में एक न्यायसंगत सूचना समाज और ज्ञान अर्थव्यवस्था बनने के भारत के प्रयास की राह में आने वाली अनेक बाधाओं को चिह्नित किया गया है। चिह्नित कारणों के उदाहरण हैं: केन्द्र,राज्य और ज़िला स्तरीय आईसीटी आधारित तंत्र का विखंडन; प्रणाली के एकीकरण की कमी; अंतिम चरण के अवरोधक; स्थानीय स्तर पर अपर्याप्त कॉमन सर्विस सेंटर (सीएससी); ई-सरकार सेवाओं को लेकर जागरूकता, उसकी सुगमता तथा किये जाने वाले उसके उपयोग की कमी, क्षेत्रीय भाषाओं में ई-सेवा की उपलब्धता का अभाव, विश्वास की कमी के साथ-साथ जांच-पड़ताल तथा निजता की चिंताएं (द्विवेदी, 2012; 2013; राणा, 2013)।

इसके अलावा उल्लिखित लेख जिन अनेक अनुसंशाओं की बात करता है, उनमें शामिल हैं: मौजूदा प्रणाली के मूल्यांकन की आवश्यकता, उभरती प्रणालियों को सरल बनाने तथा उसके एकीकरण की आवश्यकता, सेवा वितरण के लिए मोबाईल प्लेटफ़ॉर्म का इस्तेमाल; स्वर आधारित मोबाइल अनुप्रयोगों का विकास; पर्याप्त आईसीटी कौशल के साथ नागरिकों को लैस करने के लिए व्यापक प्रशिक्षण के प्रावधान; सभी ग्रामीण समुदायों में सुगम दूरी क़ायम रखने के लिए सीएससी

योगेश के. द्विवेदी डिजिटल एवं सोशल मीडिया के प्रोफ़ेसर हैं तथा यूनाइटेड किंग्डम स्थित स्वानसी विश्वविद्यालय के प्रबंधन विद्यापीठ में सिस्टम सेक्शन एवं प्रबंधन के प्रमुख हैं। वह ई-प्रशासन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित व्यक्तित्व हैं। ईमेल: y.k.dwivedi@swansea.ac.uk

नृपेन्द्र पी. राणा स्वानसी विश्वविद्यालय, यूके के प्रबंधन विद्यापीठ में लेक्चरर हैं। वह ई-सरकार के क्षेत्र में प्रमुख शोधकर्ता हैं। ईमेल: n.p.rana@swansea.ac.uk

एंटोनिस सी. सिमिन्टिरस विश्वविद्यालय के प्रबंधन खंडपीठ में विपणन के प्रोफ़ेसर हैं और अंतरराष्ट्रीयकरण के उप डीन हैं। उनकी शोध रुचि बिक्री वार्ता और बिक्री प्रबंधन, उपभोक्ता व्यवहार तथा पार सांस्कृतिक शोध पद्धति में है। ईमेल: c.simintiras@swansea. ac.uk

बनिता लाल नॉटिंघम स्थित नॉटिंघम ट्रेंट विश्वविद्यालय के नॉटिंदम व्यावसायिक विद्यापीठ में वरिष्ठ लेक्चरर हैं। वह आईटी के प्रसार तथा अंगीकरण के क्षेत्र में एक प्रमुख शोधकर्ता हैं। ईमेल: banita.lal@ntu.ac.uk

की संख्या में बढ़ोतरी; क्षेत्रीय भाषाओं में ई-सेवाओं का प्रावधान; तथा भारतीय संदर्भ की परिधि में असरदार आईसीटीसक्षम लोक प्रशासन सुधार के लिए आवश्यक शर्त के रूप में आर्थिक वातावरण में सुरक्षा तथा विश्वास की धारणा स्थापित करने की आवश्यकता (द्विवेदी, 2013)।

हाल ही में भारत सरकार ने एक अनुकरणीय पहल की घोषणा की है जिसमें द्विवेदी द्वारा चिह्नित उपर्युक्त सभी बिन्दु प्रतिबिंबित है (2013)। इसके बाद इस आलेख का उद्देश्य है कि 'डिजिटल इंडिया कार्यक्रम' के नाम से ज्ञात इस युगांतकारी पहल को इस लिहाज़ से देखा जाए कि अगर इस कार्यक्रम को असरदार तरीक़े से कार्यान्वित किया गया तो कोई शक नहीं कि भारत के सामाजिक- आर्थिक विकास तथा लोक प्रशासन सुधार पर महत्वपूर्ण तथा सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की रूपरेखा

डिजिटल इंडिया कार्यक्रम (डीआईपी) मंत्रालय की एक समेकित पहल है, जिसका उद्देश्य भारत को डिजिटल रूप से सक्षम बनाने तथा इसे सशक्त सूचना समाज एवं ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था में रूपांतरित करना है (डीआई प्रस्तुति, 2014: पीआईबी, 2014)। विशालकाय एनईजीपी का नया रूप दिखने वाले इस कार्यक्रम की परिकल्पना इलेक्ट्रॉनिक एवं सूचना प्रौद्योगिकी विभाग (डीईआईटीवाई) द्वारा की गई तथा इसके सफलतापूर्वक कार्यान्वयन के लिए एक खरब रुपये से ज्यादा का आवंटन किया गया है (डीआई प्रस्तुतीकरण, 2014; पीआईबी, 2014)। डीआईपी (स्कैन की छवियों के रूप में दस्तावेजों का डिजिटल भंडारण और पुनर्प्राप्ति प्रणाली) को 20 अगस्त 2014 को कैबिनेट की मंजूरी मिली तथा वर्ष 2018 तक इसे पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेने का लक्ष्य रखा गया। इस विराट पहल का मुख्य उद्येश्य आवश्यक रूप से सरकारी प्रक्रियाओं को नया रूप देना तथा उन्हें डिजिटाइज करना और इलेक्ट्रॉनिक रूप से सरकारी सेवाओं को उपलब्ध कराना एवं उनकी पहुंच को आसान बनाने के साथ ही साथ नये रोज़गार का सृजन करना भी है। (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)।

डीआईपी का दृष्टिकोण निम्नलिखित तीन प्रमुख क्षेत्रों के आसपास केन्द्रित है: (1) प्रत्येक नागरिक के लिए उपयोगिता के दृष्टिकोण से आधारभूत संरचना; (2) शासन और मांग पर सेवाएं; तथा (3) नागरिकों का डिजिटल सशक्तिकरण (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)। इन तीन प्रमुख क्षेत्रों को चित्र 1 में दर्शाया गया है तथा आगे चलकर निम्नलिखित अनुच्छेदों में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

'प्रत्येक नागरिक के लिए उपयोगिता के रूप में आधारभूत संरचना' वाले पहले प्रमुख क्षेत्र में शामिल हैं: नगारिकों को डिजिटल रूप से सशक्त बनाने के दृष्टिकोण से सभी ग्राम पंचायतों में उच्च गति इंटरनेट सेवा उपलब्ध कराना: नागरिकों की महत्वपूर्ण डिजिटल पहचान (अद्वितीय, आजीवन, ऑनलाइन और प्रामाणिक) का प्रावधान: नागरिकों के सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण के लिए मोबाइल फ़ोन तथा बैंक खाते के ज़रिए डिजिटल तथा वित्तीय क्षेत्रों में उनकी भागीदारी को सुनिश्चित करना; सीएससी तक आसान पहुंच बनाने का प्रावधान, जो नागरिकों को अंतिम रूप से सेवा प्रदान करने के लिए स्थानीय रूप से स्थित और बहुआयामी होय सार्वजनिक क्षेत्रों तक साझा किये जाने वाली निजी पहल की पहुंच का प्रावधान: तथा देश में एक सुरक्षित साइबरस्पेस की स्थापना, जो इलेक्ट्रॉनिक सेवाओं को व्यापक रूप से अपनाये जाने को तथा उसके उपयोग को आसान बनाता हो (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)।

'प्रशासन एवं मांग पर सेवाएं' वाले द्वितीय क्षेत्र में शामिल हैं: विभिन्न हितधारकों की विभिन्न सरकारी सेवाओं की एक सरल तथा एकल खिड़की सुगमता के लिए विभागों या न्यायालय भर में एक सहज एकीकरण होना चाहिए तथा ऑनलाइन एवं मोबाइल प्लेटफ़ॉर्म के उपयोग द्वारा वास्तविक समय के भीतर इस तरह की सरकारी सेवाएं उपलब्ध करायी जानी चाहिए। सूचनाओं के ज़रिए प्रत्येक नागरिक के विभिन्न अधिकार भी उपलब्ध होने चाहिए। इसके अलावा डिजिटल रूप से रूपांतरित सरकारी सेवाओं के सृजन द्वारा किये किये जा रहे कारोबार की सहजता को सुनिश्चित करना चाहिए तथा उसे सुविधाजनक बनाया जाना चाहिए, जो इलेक्ट्रॉनिक एवं कैशलेस वित्तीय अंतरण को सक्षम तथा सरल बनाये। अंतत: निर्णय का समर्थन और विकास के लिए एकीकृत इलेक्ट्रॉनिक सरकार सिस्टम का उपयोग होना चाहिए (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)।

चित्र-1: डिजिटल इंडिया कार्यक्रम: तीन प्रमुख क्षेत्र और नौ स्तंभ

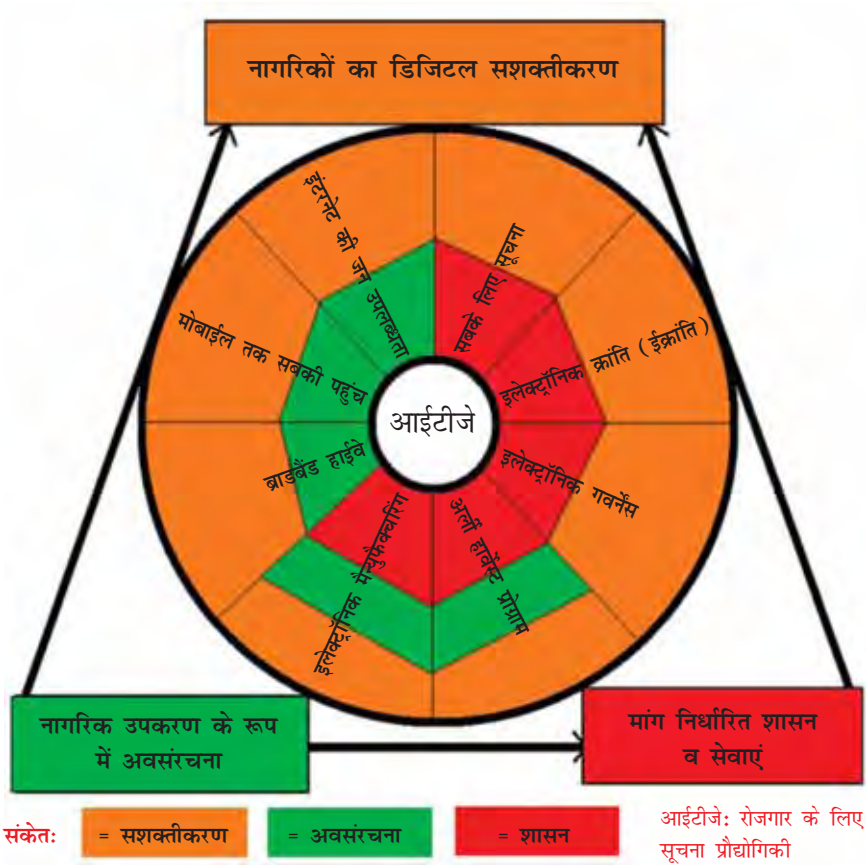

'नागरिकों का डिजिटल सशक्तीकरण' वाले तीसरे प्रमुख क्षेत्र का ज़ोर जिन्हें अपरिहार्य बनाता है, उनमें हैं: भारतीय नागरिकों के बीच डिजिटल साक्षरता प्रदान करना: डिजिटल संसाधनों को व्यापक रूप से सुलभ बनाना: आसान और सर्वव्यापी पहुंच बनाना, सभी सरकारी काग़ज़ात/प्रमाण-पत्रों को डिजिटल स्पेस में उपलब्ध कराना; इसे अपनाने तथा इसके उपयोग करने को प्रोत्साहित करना, डिजिटल संसाधन तथा/या सेवाओं को क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध कराना; साझेदारी वाली प्रशासन संस्कृति के विकास के लिए व्यापक डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म का विकास किया जाना चाहिए तथा व्यक्तियों के लिए सभी अधिकारों को साइबर स्पेस के ज़रिये पोर्टेबल बनाया जाना चाहिए (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)।

ऊपर जिन तीन प्रमुख क्षेत्रों की व्याख्या की गई है, उन्हें हासिल करने के लिए डीआईपी के पास भी चिह्नित नौ स्तंभ हैं: (1) ब्रॉडबैंड हाईवे; (2) मोबाईल कनेक्टिविटी तक व्यापक पहुंच; (3) इंटरनेट सुगम लोक कार्यक्रम; (4) ई-शासन: प्रौद्योगिकी के माध्यम से शासन में सुधार; (5) ई क्रांति - सेवाओं की इलेक्ट्रॉनिक डिलीवरी; (6) सभी के लिए सूचना; (7) इलेक्ट्रॉनिक्स विनिर्माण; (8) नौकरी के लिए आईटी; और (9) अर्ली हार्वेस्ट कार्यक्रम (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)।

एक स्तंभ के रूप में ब्रॉडबैंड हाईवे राष्ट्रीय सूचना आधारभूत संरचना के सभी ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों एवं उसके एकीकरण के लिए ब्रॉडबैंड को आच्छादित करेगा। दूसरा स्तंभ सर्वव्यापक मोबाइल कनेक्टिविटी के लिए बुनियादी ढांचा बनाने पर केंद्रित है। तीसरा स्तंभ एक पर्याप्त संख्या की स्थापना पर जोर देता है (कुल 2,50,000 गांवों के लिए)। मार्च 2017 तक स्थानीय रूप से स्थित सीएससी को यह संख्या हासिल करनी है, साथ ही साथ अगले दो वर्षों के भीतर 1,50,000 डाकघरों को बहुसेवा केन्द्र के रूप में विकसित किया जाना है। चौथे स्तंभ के रूप में सरकार ने प्रौद्योगिकी (यानी ई-प्रशासन) के माध्यम से सुधार लाने की योजना बनायी है। इसे कारोबार प्रक्रिया री-इंजीनियरिंग (बीपीआर) के साथ जोड़ा जाना है, जिसमें शामिल हैं: फार्म सरलीकरण, ऑनलाइन आवेदन और ट्रैकिंग, ऑनलाइन खजाने का उपयोग, सेवाओं और प्लेटफार्मों का एकीकरण; कार्यप्रवाह का स्वचालन तथा नागरिक मामलों के समाधान के लिए एक स्वचालित लोक शिकायत निवारण प्रणाली का उपयोग (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)।

पांचवां स्तंभ सरकारी सेवाओं तक पहुंच बनाने के लिए नागरिकों की ख़ातिर स्पर्श अंक के प्रावधान पर जोर देता है। यह ई-क्रांति का इस्तेमाल करते हुए सेवाओं की इलेक्ट्रॉनिक डिलिवरी के साथ संबद्ध है,जो दो विभिन्न श्रेणियों में विभाजित है: ई-शिक्षा तथा ई-स्वास्थ्य, जीआईएस आधारित निर्णयन के माध्यम से प्रौद्योगिकी, आदानों का ऑनलाइन आदेश का उपयोग कर किसानों के लिए प्रौद्योगिकी, सुरक्षा के लिए प्रौद्योगिकी, मोबाइल बैंकिंग और एक माइक्रो एटीएम कार्यक्रम के माध्यम से वित्तीय समावेशन, ई-अदालत, ई-पुलिस, ई-जेल तथा ई-अभियोग। छठा स्तंभ सभी के लिए सूचना है, जहां सरकार विभिन्न महत्वपूर्ण सूचनाओं के साथ अपने आपको संलग्न करके लगातार नागरिकों को अद्यतन जानकारी देने के साथ सूचनाओं तथा काग़ज़ातों को ऑनलाइन करने (इस उद्देश्य के लिए MyGov.in पोर्टल पहले ही शुरू किया जा चुका है) के प्रति प्रतिबद्ध है तथा विशेष अवसरों पर नागरिकों को ऑनलाइन संदेश के लिए वचनबद्ध है (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)।

सातवां स्तंभ इलेक्ट्रॉनिक निर्माण को शामिल करता है, जहां सरकार का लक्ष्य 2020 तक एक शुद्ध शून्य आयात लक्ष्य को प्राप्त करने के क्रम में देश में सभी इलेक्ट्रॉनिक वस्तुओं का निर्माण करने का है। हालांकि मौजूदा संरचनाएं इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं तथा इस महत्वपूर्ण लक्ष्य को पाने के लिए चल रहे कई कार्यक्रमों को और सुसंगत बनाये जाने की योजना है। आठवां स्तंभ डीआईपी के महत्वपूर्ण स्तंभों में से एक है और वह है, आईसीटी आधारित रोज़गार का सृजन करना। इस उद्देश्य को पाने के लिए सरकार आईटी क्षेत्र की नौकरियों के लिए छोटे छोटे क़स्बों तथा गांवों में रहने वाले लोगों को प्रशिक्षित करने तथा आईटीसक्षम सेवाओं (आईटीईएस) की स्थापना की योजना पर काम कर रही है। पूर्वोत्तर राज्यों में स्थायी व्यापार डिलिवरी आईटी सेवाओं को चलाने के लिए सेवा डिलिवरी एजेंट को प्रशिक्षण देने की ख़ातिर एवं यह सुनिश्चित करने के लिए कि वो स्वयं की मदद कर पाएं, इसलिए दूरसंचार सेवा प्रदाता वहां के ग्रामीण कार्यबल को प्रशिक्षित करते हैं। अंतत: नौवां स्तंभ अर्ली हार्वेस्ट कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम ने संदेश के लिए एक आईटी प्लेटफ़ॉर्म पाने के लक्ष्य के साथ पहले ही काम करना शुरू कर दिया है, ई-ग्रीटिंग्स के माध्यम से सरकारी अभिनंदन उपलब्ध है तथा सरकारी दफ्तरों में बायोमेट्रिक उपस्थिति का प्रावधान भी है। अर्ली हार्वेस्ट कार्यक्रम के प्रारंभिक चरणों को पहले ही हासिल किया जा चुका है (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)।

समापन मूल्यांकन तथा संस्तुतियां

हमने डिजिटल इंडिया पहल के लिए 'अनुकरणीय' और 'मील का पत्थर' जैसे शब्दों का प्रयोग जानबूझकर किया है। हमारे विचार में यह अपनी प्रकृति में 'समग्र' तथा 'समावेशी' है तथा लंबे समय तक टिकाऊ रहने वाला दृष्टिकोण है।

समग्र रूप से हम इस बात को उद्धृत करते हैं कि डीआईपी आधारभूत संरचनाओं के विकास, एकीकृत तथा सुव्यवस्थित इलेक्ट्रॉनिक सेवाएं एवं नागरिकों की डिजिटल साक्षरता जैसे ज़रूरी और अंतर्संबद्ध पहलुओं पर केन्द्रित होता है। जैसा कि चित्र 1 में दर्शाया गया है, प्रशासन के साथ युग्मित आधारभूत संरचना तथा सुव्यवस्थित ई-सेवाएं दोनों कारक नागरिकों के वास्तविक डिजिटल सशक्तीकरण को साकार करते हैं क्योंकि इन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में से किसी भी एक की कमजोरी भारत को डिजिटल भारत में रूपांतरित करने में एक बाधा के रूप में कार्य करेगा। यहां तक कि 'डिजिटल साक्षरता' के क्षेत्र पर असली फ़ोकस ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि आख़िरी उपभोक्ता में भी इस जागरूकता का अगर अभाव है कि उन्हें क्या उपलब्ध कराया जा रहा है और अगर आईसीटी आधारित प्रणाली का इस्तेमाल करने की कुशलता तथा उसे लेकर आत्मविश्वास की कमी है तो आधारभूत संरचना तथा सुव्यवस्थित ई-सेवाएं दोनों का आख़िरकार कोई मतलब नहीं रह जाता है। डीआईपी इस मायने में 'समावेशी' है कि यह सिर्फ़ शहरी क्षेत्रों के विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करता है। बल्कि, बराबर या अधिक ध्यान ग्रामीण आबादी के विकास पर भी दिया जा रहा है। जैसा कि सोचा गया, अगर कामयाबी के साथ इसका कार्यान्वन हो गया तो समावेशी एवं समान सूचना समाज तथा ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था के सृजन और शहरी एवं ग्रामीण आबादी के बीच 'डिजिटल ग़ैरबराबरी' को पाटने के संदर्भ में इटरनेट कनेक्टिविटी (ब्रॉडबैंड, मोबाइल

तथा लोक इंटरनेट सुगम बिन्दु के माध्यम से) का प्रभाव महत्वपूर्ण होगा।

इसके पैमाने (इसकी संभावना, बजट, लाभ तथा पूर्णता महत्वाकांक्षी समयसीमा के संदर्भ में), इसकी सूचनात्मक प्रकृति के साथ ही साथ इसका एक बड़े पैमाने पर कौशल विकास और रोजगार सृजन में योगदान पर विचार करते हुए यह स्पष्ट है तथा जैसा कि डीआईपी ने भी अनुमान लगाया है कि इससे 1.7 करोड़ प्रत्यक्ष रोज़गार का सृजन होगा तथा इससे 8.5 करोड़ लोगों के लिए अप्रत्यक्ष रूप से मिलने वाले रोज़गार की भी संभावना बनती है (डीआई प्रस्तुति, 2014; पीआईबी, 2014)। इतने बड़े पैमाने पर डीआईपी की तरह पहले की कोई भी डिजिटल पहल नहीं थी। सबसे बड़ी वैश्विक आईटी कंपनियों (जैसे; गूगल, माइक्रोसॉफ्ट) तथा नासकॉम जैसे संगठनों का भी इसमें अपनी रुचि दिखाना एवं इस पहल में अपना योगदान देना भी इसकी ऐतिहासिक प्रकृति के बहुत बड़े सुबूत हैं । इसके अलावा कोई इसे ऐतिहासिक पहल भी कह सकता है क्योंकि इलेक्ट्रॉनिक वाणिज्य (ज्यादा ग्राह्य शब्द डिजिटल एवं सामाजिक वाणिज्य होगा) एवं डिजिटल विपणन के व्यापक उभार के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में उपभोक्ता फुटकर व्यापार की संरचना तथा उसकी गतिशीलता पर इसका महत्वपूर्ण प्रभाव होगा। अपनी अनुकरणीय तथा ऐतिहासिक प्रकृति के कारण ही औद्योगिक नेतृत्व के साथ साथ भारतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय मीडिया से भी डीआईपी को खूब सराहना मिली है।

कार्यक्रम के अनुमानित लाभ का तभी एहसास होगा जब डीआईपी अंशत: या पूर्णत: लागू हो जाता है। माना जाता है कि भारत की मौजूदा सरकार मज़बूत और स्थायी है, ऐसे में हमें विश्वास है कि इसका (ख़ासकर इसके तकनीकी एवं आधारभूत संरचनात्मक पहलू) बड़ा हिस्सा संभवत: योजना के मुताबिक़ ही पूरा होना है, चूंकि कुछ तत्व पहले ही या तो शुरू कर दिये गए हैं या पूरे हो चुके हैं। उदाहरण के लिए कर्मचारियों की उपस्थिति की निगरानी चरणबद्ध रूप से बॉयोमीट्रिक तकनीक से बहुच अच्छी तरह चल रही है। हालांकि डिजिटल साक्षरता तथा मानव विकास के पहलुओं को डिजिटल तरीक़े में लाने में अभी और समय लगेगा, कौशल तथा जागरूकता एवं उनकी प्रवृत्ति में बदलाव लाना ही सिर्फ़ एक बड़ा कार्य नहीं है बल्कि एक जटिल कार्य को प्रभावशाली स्तर तक लाने में कई साल भी लग सकते हैं। हम ख़ासकर ग्रामीण आबादी में डिजिटल साक्षरता को प्रोत्साहित करने वाले एक स्पष्ट, प्रणालीबद्ध एवं लक्षित दृष्टिकोण की अनुसंशा करते हैं

हालांकि एक ख़ास तथा कम समयसीमा में सभी के लिए डिजिटल साक्षरता का परिणाम हासिल करने वाली कोई जादू की गोली नहीं है, तथापि विपणन उन्मुख खंडविन्यास तथा लक्ष्य पाने वाली रणनीति को अपनाकर असरदार तरीक़े वाली प्रक्रिया को संभवत: और सुगम बनाया जा सकता है। चित्र 2 एक विपणन उन्मुख नागरिक संलग्नता फ्रेमवर्क (सिमिन्टिरस से अपनाया गया, 2014) को दर्शाता है, जो डिजिटल साक्षरता के प्रभावशाली प्रोत्साहन में सहायक हो सकता है। संक्षेप में, उपर्युक्त नागरिक संलग्नता रूपरेखा (सीईएफ़) आईसीटी साक्षरता आधारित ख़ास नागरिकों तथा आईसीटी सक्षम सेवाओं के अनुप्रयोग व्यवहार के भिन्न स्तर को निर्देशित करती है । सीईएफ़ अंगीकरण तथा संलग्नता की सीढ़ी में 'रूपांतरण' के प्रगतिशील मार्ग की तजवीज़ की जाती है क्योंकि यह उपयोग के व्यवहार के तीन स्तरों (यानी गैर उपयोगकर्ता, हल्के उपयोगकर्ता तथा बड़े पैमाने पर उपयोग करने वाले) तथा संलग्नता के दो स्तरों (यानी तदर्थ संलग्नता एवं जारी संलग्नता) की अनुसंशा करता है। प्रत्यक्ष सामरिक आधार पर यह कई बिन्दुओं पर केन्द्रित होता है: 1) गैर उपयोगकर्ताओं का उपयोगकर्ताओं में परिवर्तन; 2) मामूली उपयोगकर्ताओं का बड़े उपयोगकर्ता में बदलना; तथा 3) तदर्थ रूप से संलग्न नागरिकों का उन नागरिकों में बदलना जो लंबे समय से इसमें संलग्न हैं (सिमिन्टिरस, 2014, पेज-2)। पाठकों को सीईएफ के बारे में और अधिक जानने समझने की ख़ातिर सिमिन्टिरस (2014) के आलेख को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

डीआईपी में विभिन्न दृष्टिकोण (यानी ब्रॉडबैण्ड, मोबाइल, लोक इंटरनेट पहुंच बिन्दु) को शामिल किया गया है, जो इंटरनेट कनेक्टिविटी तथा सरकारी सेवा को सुगम बनाने के लिए सीएससी के प्रावधान को सामने लाते हैं। ये डिजिटल विभाजन के बीच एक पुल बनाने का एक प्रभावशाली दृष्टिकोण है और अंतत: डिजिटल समावेशन को सुगम बनाता है। हालांकि इसकी राह में बड़ी बाधा भी है और इस स्तर पर आकर इस बाधा पर ध्यान दिया जाना चाहिए। बड़ी संख्या में भारतीय गांव अब भी विद्युत आपूर्ति से वंचित हैं तथा भारत के ज्यादातर हिस्से को अब भी बिजली कटौती की समस्याओं से जूझना पड़ता है। इस प्रकार, इंटरनेट कनेक्शन, सीएससी तथा लोक इंटरनेट सुगम बिन्दु तब तक उपयोगी (इसलिए इस पर सभी तरह के निवेश उप-अनुकूलनत रहेंगे) नहीं हो सकता है, जबतक कि विद्युत आपूर्ति अबाध नहीं हो पाती। इस समस्या से निजात पाने के लिए सीएससी तथा लोक इंटरनेट सुगम बिन्दुओं को सशक्त बनाया जाना चाहिए और ऐसा विद्युत आपूर्ति से ही संभव है, जो सौर या वायु जनित ऊर्जा जैसे वैकल्पिक साधनों द्वारा सृजित किया गया हो। सीसीएस की अधिकतम संभावनाओं का उपयोग करने तथा सरकारी सेवाओं तक चौबीसों घंटे पहुंच बनाने की सुविधाओं की उपलब्धता के लिए सभी सीएससी को पर्याप्त रूप से सक्षम सौर पैनल से सुसज्जित किया जाना चाहिए। हमें इस बात का विश्वास है कि यह डीआईपी

चित्र-2: प्रभावशाली डिजिटल साक्षरता के प्रोत्साहन के लिए नागरिक संलग्नता रूपरेखा (सीईएफ़)

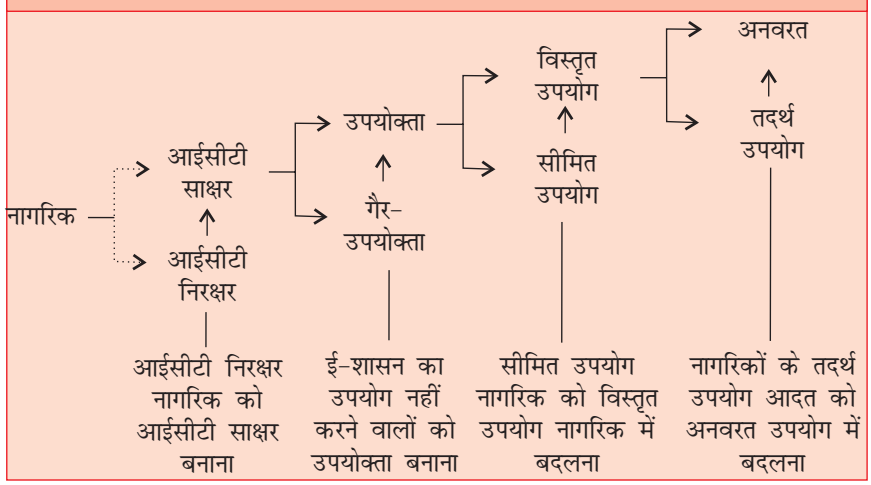

स्रोत: *सिमिन्टिरस, 2014, पृष्ठ 4*

एजेंडे को न सिर्फ़ स्थिरता या निरंतरता प्रदान करेगा बल्कि वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों के प्रति जागरूकता और सकारात्मक रवैये का भी निर्माण करेगा।

डीआईपी में बड़े पैमाने पर मुक्त पाठ्यक्रम (एमओओसी) को विकसित तथा संचालित किये जाने का प्रावधान है, जो एक अत्याधुनिक नवाचार है और जिसे व्यापक रूप से जांचना परखना अभी बाक़ी है। इस तरह के नवाचार को व्यापक रूप से अपनाये जाने के लिए ज़रूरी है कि रवैये में बदलाव लाया जाए। इसके लिए महत्वपूर्ण है कि इसके विकास के दौरान उपयोगकर्ता को भी शामिल किया जाए। इसके अलावा, एक व्यापक पैमाने पर पहल शुरू करने से पहले कुछ बड़े पैमाने के शुरुआती क़दमों के साथ नृवंशीय शोध भी किये जाने चाहिए।

राज्यों द्वारा चलाये जा रहे विद्यालयों की स्थिति, ख़ासकर उन राज्यों में जो अभी बहुत विकसित अवस्था में नहीं हैं, बहुत आशाजनक नहीं है। शिक्षक अच्छी तरह प्रशिक्षित नहीं हैं तथा डिजिटल प्रौद्योगिकी को इस्तेमाल करने के लिहाज़ से वो उतने कुशल भी नहीं हैं। उस पृष्ठभूमि में सिर्फ़ स्कूलों का ब्रॉडबैण्ड से जोड़ा जाना ही काफ़ी नहीं होगा। शिक्षकों को इस बात के लिए भी प्रशिक्षित किया जाना चाहिए कि वो शिक्षा प्रदान करने के लिए किस तरह से डिजिटल प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करें तथा इसका उपयोग करके किस तरह छात्रों तथा उनके अभिभावकों को इसमें संलग्न करें। संभवत: इस संबंध में दक्षिण कोरिया ने एक मापदंड स्थापित किया है,यह उन देशों में से एक है जिसने विश्व में सबसे ज्यादा ब्रॉडबैंड तक अपनी पहुंच बनायी है। इसके कारण वहां के स्कूल बेहद लाभमंद रहे हैं तथा वो स्कूल दक्षिण कोरिया में ब्रॉडबैंड कनेक्टिविटी के व्यापक रूप से अपनाये जाने को लेकर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं और इस मामले में संयुक्त राष्ट्र की तरफ़ से कराये गए एक सर्वेक्षण में विश्व-ई-सरकार विकास सूची में दक्षिण कोरिया पहले स्थान पर है (यूएन ई-सरकार सर्वेक्षण, 2014)। ब्रॉडबैण्ड कनेक्टिविटी, ई-पुस्तक के इस्तेमाल तथा उसकी उपलब्धता, स्कूली स्तर पर दी जा रही आईसीटी कौशल बेहद अहम होगा क्योंकि इससे भारतीय बच्चों को डिजिटल निवासी होने का अवसर मिलेगा, जो इसके बदले में अगले बीस सालों में डिजिटल विभाजन को पाटने में मददगार साबित होगा।

उपलब्ध सूचना के आधार पर एक क्षेत्र जो डीआईपी में कमजोर है, वह है विभिन्न तत्वों के मूल्यांकन का प्रावधान, चाहे वह जब भी पूर्णता को प्राप्त कर सके। द्विवेदी (2013बी, पृष्ठ-33) का तर्क है कि: 'अगर वांछित मूल्य हासिल किया जा रहा है तथा अगर किसी सीख को भावी इलेक्ट्रॉनिक सेवाओं के विकास के लिए सीखे जाने की ज़रूरत है तो परीक्षण के लिए मूल्यांकन अनिवार्य है। बिना प्रभावशाली मूल्यांकन के समान ग़लती दोहरायी जा सकती है। ख़ासकर भारत जैसे देशों में जहां भ्रष्टाचार सभी स्तरों पर बड़ा आम है, 'तीसरी आंख' के बिना विभिन्न परियोजनाओं का मूल्यांकन मुश्किल है तथा यह सुनिश्चित कर पाना भी कठिन है कि डीआईपी अपनी सही दिशा की तरफ़ जा रहा है। शैक्षणिक गतिविधियों में लगे लोग तथा शोधार्थियों के लिए सुव्यवस्थित ढंग से सभी व्यक्तिगत परियोजनाओं के कठिन तथा स्वतंत्र मूल्यांकन एक 'तीसरी आंख' द्वारा किये जाने की हमारी सलाह है।

डीआईपी विभिन्न विषयों (प्रौद्योगिकी, कारोबार तथा प्रबंधन, सामाजिक विज्ञान) से डॉक्टरेट कर रहे छात्रों को संलग्न करने का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अवसर का प्रस्ताव देता है और अंत:विषयों के साथ परा-विषयों के शोध का एक अद्वितीय और अनुकूल माहौल प्रदान करता है। इस तरह के प्रावधान डीआईपी को सफलतापूर्वक पूरा करने में अपना योगदान देते हैं बल्कि एक अंत:विषयक/परा-विषयक शोध कार्यबल एवं शोध संस्कृति के विकास में अपना योगदान भी देते हैं। यह शिक्षाजगत, अन्य सार्वजनिक उपक्रम तथा निजी उपक्रमों को भी एक दूसरे के नज़दीक लाता है। इस प्रकार हम इस बात में विश्वास करते हैं कि शैक्षणिक संलग्नता तथा मूल्यांकन डीआईपी के लिए ज़रूरी तत्व हैं, जो इस समय एक तरह से कहीं न कहीं शामिल नहीं हैं।

अब हम भारत की कायाकल्प यात्रा के बारे में अपना समापन विचार प्रस्तुत करते हैं,जो 2020 तक आज के भारत को डिजिटल भारत में बदलने का इरादा रखता है। डिजिटल भारत कार्यक्रम की शुरुआत करके भारत सरकार ने कायाकल्प यात्रा के लिए एक मार्ग विकसित किया है। हालांकि 'डिजिटल इंडिया' की वांछित स्थिति प्राप्त करने के लिए यह मार्ग काफी हद तक आसान लगता है, यह आसान तो किसी भी स्थिति में नहीं है और जैसा कि ऊपर इस बात का ज़िक्र किया गया है कि कुछ मुश्किलें और बाधाएं ज़रूर आयेंगी। राष्ट्रीय सूचना केन्द्र (एनआईसी) इन बाधाओं और मुश्किलों से पार पाने के लिए तैयार नहीं दिखता जिससे डिजिटल भारत का सामना होगा। अत: सही मायने में एनआईसी का कायापलट आवश्यक है, जो बदले में अच्छी संभावनाओं को सामने लाये ताकि मौजूदा समय से डिजिटल भारत तक की यात्रा कर सके। हालांकि अगली स्थिति यह है कि यह यात्रा अपने गंतव्य स्थान तक अनवरत बिना हस्तक्षेप की चलती रहे, यह भी बहुत महत्वपूर्ण है कि इस यात्रा के दौरान भारतीय नागरिक लगातार नई जानकारियों से लैस, संलग्न एवं कौशलपूर्ण/प्रशिक्षित रहें ताकि रूपांतरित डिजिटल भारत के संक्रमण के लिए तैयार रहे और उसका मूल्यांकन कर सके।

डिजिटल इंडिया कार्यक्रम का प्रतिबिंबन तथा इसके विभिन्न कारकों पर हो रहे कार्यक्रम के सभी चरणों पर विचार करने की ज़रूरत है- इन कारकों में शामिल हैं; विकास, कार्यान्यवयन तथा अंगीकरण-डीआईपी को सही मायने में एक परिवर्तनकारी पहल के रूप में देखा जाना चाहिए। संभावना के लिहाज़ से पूरी आबादी के डिजिटल कौशल समुच्च्य शिक्षित करने तथा उसका विस्तार करने का अवसर प्रदान करते हुए कार्यक्रम में न सिर्फ़ डिजिटल का वातावरण उत्पन्न करने की क्षमता है बल्कि समग्र सामाजिक समावेशन की शक्ति भी है- एक राष्ट्र की अनुकूलन अवस्था को सभी नागरिकों के सामाजिक समावेशन को हासिल करना है, जो अंशत: डिजिटल समावेशन के ज़रिये हासिल किया जा सकता है। इस प्रकार डीआईपी पूरे भारत के लिए न सिर्फ़ आशाजनक बल्कि एक रोमांचक अवसर उपलब्ध कराता है। इस दृष्टिकोण को वास्तविकता बनाने के बावजूद भारतीय नागरिकों तथा उनकी आदतों के सांस्कृतिक रूपांतरण की आवश्यकता है - संभवत: यह डीआईपी के रचनाकारों के लिए सबसे नाज़ुक तथा अभी तक की आकर्षक चुनौती है!

अगर यह कार्यक्रम अपेक्षित परिणाम प्राप्त करता है तो नयी अर्थव्यवस्था में भारत सफल होने तथा सकारात्मक विकास को क़ायम रखने की एकदम सही स्थिति में होगा, जो भारत की वैश्विक प्रतिस्पर्धात्मकता को बढ़ाने में एक निर्णायक कारक है। भारत के लिए भविष्य, जैसा कि डीआईपी का मानना है, पूरी तरह सुनहला है। ❑

राष्ट्रीय वाद नीति

राष्ट्रीय वाद नीति भारत सरकार द्वारा हाल ही में तैयार की गई है। नीति इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार और उसकी विभिन्न एजेंसियां देश की अदालतों और अधिकरणों में प्रमुख वादी हैं। इस नीति का उद्देश्य सरकार को एक कुशल और जिम्मेदार वादी के रूप में रूपांतरित करना है तथा अदालत में सरकारी मुकदमेबाजी को कम करना है ताकि मुकदमे की लंबित समय सीमा को औसत रूप से 15 से घटाकर 3 साल किया जा सके। यह नीति इस मान्यता पर भी आधारित है कि नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना, मौलिक अधिकारों का सम्मान करना सरकार की जिम्मेदारी है और सरकारी मुकदमेबाजी के आचरण के उन आरोप की रौशनी में इस बुनियादी सिद्धांत को कभी नहीं भुलाया जाना चाहिए।

लक्ष्य अभिव्यक्ति

इसके मिशन स्टेटमेंट में इस बात की घोषणा की गयी है कि सरकार को एक मजबूर वादी होने की स्थिति को समाप्त करना होगा। इसके पीछे तर्क यह है कि ऐसे मामलों में अंतिम निर्णय अदालत पर ही छोड़ने की प्रथा को खत्म किया जाना चाहिए। 'अदालत को फैसला करने दीजिए' जैसे आसान तरीके से परहेज करना चाहिए और इसकी निंदा होनी चाहिए। सरकार के प्रतिनिधि वादियों को न्यायिक सुधारों के लिए राष्ट्रीय मिशन में शामिल सिद्धांतों का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि बाधाओं को लेकर सरकार तथा उसकी एजेंसियां भी संबद्ध हो सकती हैं और बाधा पैदा करने वाले उन अनावश्यक मुकदमों से सरकार छुटकारा पाना चाहती है। मुकदमेबाजी में प्राथमिकता कल्याणकारी याचिका, सामाजिक सुधार, कमजोर वर्गों तथा वरिष्ठ नागरिकों पर खास जोर देकर ही हासिल की जा सकती है तथा सहायता पाने वाले अन्य श्रेणियों के लोगों पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए।

हितधारक तथा जिम्मेदारी

इस नीति की सफलता सुनिश्चित करने में कानून एवं न्याय मंत्रालय, विभिन्न विभागों के प्रमुखों, विधि अधिकारी और सरकारी वकील तथा संबद्ध मुकदमों से जुड़े हुए सभी अधिकारियों जैसे हितधारकों को अपनी अपनी भूमिका निभानी होगी। इस नीति की सफलता इसके सख्त कार्यान्वयन पर निर्भर करेगी। प्रमुख अधिकारी विभाग प्रमुखों द्वारा नियुक्त किये जाएंगे। जवाबदेही इस नीति की कसौटी होगी। इसे विभिन्न स्तरों पर सुनिश्चित करना होगा। ये स्तर होंगे: मुकदमे के प्रभारी अधिकारी, बचाव पक्ष के लिए जवाबदेह, सभी संबद्ध वकील तथा प्रमुख अधिकारी। इस नीति तथा इसकी जवाबदेही के कार्यान्वयन की निगरानी करने के लिए अधिकार प्राप्त समितियां होंगी। उन लोगों के कौशल तथा क्षमताओं के मूल्यांकन करने के लिए प्रत्येक स्तर पर पैनल के निर्माण के लिए अनुवीक्षण समितियों का गठन करना होगा, जो सरकारी पैनल पर आने के इच्छुक हैं। इन्हें शामिल करने से पहले उनका मूल्यांकन जरूरी होगा। पूरा जोर मूल क्षमता, प्रक्षेत्र विशेषज्ञता तथा विशेषज्ञता के क्षेत्रों की पहचान करने वाले क्षेत्रों पर होगा।

मिशन-प्रारूपकता का कार्यान्वयन

- सरकारी अधिवक्ताओं को अच्छी सुविधाएं दी जानती चाहिए और उन्हें कंप्युटर, इंटरनेट, लिंक आदि जैसी पर्याप्त बुनियादी सुविधाएं मुहैया करायी जानी चाहिए। सरकारी अधिवक्ताओं को सामान्य शोध सुविधाएं उपलब्ध कराये जाने के साथ-साथ मामलों के संकलन को प्रस्तुत करने के लिए उपकरण भी उपलब्ध कराये जाने चाहिए।
- लंबित मामले के प्रबंधन के लिए नोडल अधिकारी जिम्मेदार होगा। यह मामलों, खासकर उन मामलों की लगातार निगरानी करेगा, जो या तो बंद हो गए हैं या बेकार के खींच रहे हैं।
- आधे अधूरे मामलों की प्रथा पर लगाम लगनी चाहिए। ऑन रिकॉर्ड अधिवक्ता इस तरह के मामलों के लिए सीधे सीधे जिम्मेदार होंगे।
- यह नोडल अधिकारी की जिम्मेदारी होगी कि वह दोहराये जा रहे और अनुचित स्थगन वाले मामलों की रिपोर्ट विभाग प्रमुखों को दे तथा यह पूरी तरह से उसी पर निर्भर होगा कि वो स्थगन के कारणों की मांग करे। एजेंसी का प्रमुख यह सुनिश्चित करेगा कि अगर यह दोहराया हुआ स्थगन हो तो मामले के रिकॉर्ड्स स्थगन के कारणों को प्रतिबिंबित करता है। लापरवाही या चूक के मामलों को गंभीरता से लिया जाएगा तथा ऐसे मामले अधिकार प्राप्त समितियों के पास भेज दिए जाऐंगे, जो इस मामले से उचित रूप से निपटेगी। अगर अधिवक्ता दोषी पाये जायेंगे तो उनके खिलाफ कार्रवाई करते हुए उन्हें निलंबित किया जा सकता है या फिर सरकारी पैनल से उनका नाम भी हटाया जा सकता है।

जनहित याचिका

जनहित याचिका को लेकर संतुलित तरीके से पेश आने की जरूरत है। एक तरफ जनहित याचिका (पीआईएल) को इस सहजता के साथ नहीं लिया जाना चाहिए कि अदालत को करने दीजिए, जो सरकार के लिए असुविधाजनक है। माना जाता है कि जनहित याचिकाओं में वृद्धि इस खास धारणा की वजह से है कि सरकार निष्क्रिय है। यह धारणा बदली जानी चाहिए।

लंबित मामले

अटार्नी जनरल के कार्यालय और सॉलिसिटर जनरल भी सभी लंबित मामलों की समीक्षा करने और महत्वहीन मामलों तथा महत्वपूर्ण मामलों को छांटने के लिए जिम्मेदार होंगे। मामले को वर्गीख्रत तथा श्रेणीबद्ध किया जाएगा। वर्गीकरण की प्रक्रिया शुरू की जानी चाहिए, जिसके द्वारा मामलों तथा उसकी स्थिति संलग्नता के मुताबिक पहचान का एक खास नंबर मुहैया करायी जानी चाहिए। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए एक मानक फॉर्म लाया जाना चाहिए, जिसे मुकदमों को दाखिल करते समय अधिवक्ता भरे। जिन मामलों को वापस लिया जा सकता है, ऐसे मामलों को चिह्नित करते हुए उन्हें श्रेणीबद्ध करने के कार्यान्वयन के लिए पैनल बनाया जाएगा। ऐसे मामलों में अदालती फैसलों द्वारा कवर किए जाने वाले मामले तथा निर्वाद्य मामले वापस लिये गए मुकदमे शामिल हैं। ऐसा एक समयबद्ध परंपरा के रूप में किया जाना चाहिए।

(पीआईबी सामग्री के आधार पर)

प्रधानमंत्री जन-धन योजना

आर्थिक समेकन की नयी कहानी

पायल सक्सेना

भारत के प्रत्येक परिवार को वित्तीय सेवाओं अथवा बैंकिंग सेवाओं के दायरे में लाने के उद्देश्य के साथ जब प्रधानमंत्री जन धन योजना आरंभ की गई थी तो शायद ही किसी ने यह सोचा हो कि इसे ऐसी अभूतपूर्व सफलता मिलेगी कि विश्व रिकॉर्ड बनाकर यह गिनीज बुक में अपना नाम दर्ज करा लेगी। लेकिन मात्र 5 महीने में 11.50 करोड़ बैंक खाते खोलकर इस योजना ने विश्व रिकॉर्ड बना डाला। दिलचस्प है कि इसके तहत 26 जनवरी 2015 तक 7.5 करोड़ बैंक खाते खोलने थे, लेकिन वह आंकड़ा दिसंबर 2014 के पहले पखवाड़े में ही पार कर लिया गया था और 17 जनवरी 2015 तक इस योजना के अंतर्गत खुलने वाले खातों की संख्या 11.50 करोड़ के आगे पहुंच गई। गिनीज बुक ने एक ही सप्ताह में लगभग 1.80 करोड़ बैंक खाते खोले जाने को विश्व रिकॉर्ड की मान्यता दी है।

वास्तव में यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं है क्योंकि हमारे देश में ग्रामीण अंचलों या निचले तबकों के लोग सरकारी वित्तीय दायरे के नाम पर अक्सर डाकघर तक पहुंचकर ही रुक जाते थे। वित्तीय सेवा के नाम पर उनके पास साहूकार जैसी प्रणाली ही थी, जो शोषण के अलावा उन्हें कुछ नहीं देती थी। ऐसे में इतनी भारी संख्या में लोगों को बैंक के काउंटर तक पहुंचाना और खाते खुलवाकर एटीएम की सुविधा दिलवाना कोई मामूली बात नहीं है। इसी वजह से वित्त मंत्री अरुण जेटली अगर इसे वित्तीय समावेश के मामले में दुनिया का सबसे बड़ा कार्यक्रम कह रहे हैं तो कुछ भी गलत नहीं है। यों भी अगर एक ही सप्ताह में किसी योजना के अंतर्गत 18,096,130 खाते खोल दिए जाएं (जैसा गिनीज बुक से आए पत्र में कहा गया है) तो किसी को भी हैरत होगी।

पीएमजेडीवाई: एक नजर में

कुल लक्षित खाते	7.5 करोड़* (26 जनवरी 2015 तक)			
कुल खुले खाते	11.5 करोड़** (17 जनवरी 2015 तक)			
खाताधारक (प्रतिशत में)	महिला	पुरुष	ग्रामीण	शहरी
	51	49	60	40

स्रोत: वित्त मंत्रालय की वेबसाइट

जन का असली धन

जन धन योजना की सफलता का एक संकेत उसके आंकड़ों से भी चलता है, जो इसके प्रभाव और दायरे को परिलक्षित करते हैं। वित्त मंत्रालय से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार 21 करोड़ से अधिक परिवारों का सर्वेक्षण कराने पर पता चला कि 99.74 प्रतिशत परिवार इस योजना के अंतर्गत केवल 4 महीने में खाता खुलवा चुके हैं। इसे बहुत महत्वपूर्ण उपलब्धि कहा जाएगा क्योंकि इस योजना के आरंभ होने से पहले केवल 58 प्रतिशत परिवार बैंकिंग प्रणाली से जुड़े थे। अच्छी बात है कि इस योजना के अंतर्गत 60 प्रतिशत खाते ग्रामीण क्षेत्रों में खुले हैं, जहां इनकी सबसे ज्यादा आवश्यकता है और 40 प्रतिशत खाते शहरी क्षेत्रों में खोले गए हैं। लगभग 51 प्रतिशत खाते महिलाओं ने खुलवाए हैं। योजना के तहत 10 करोड़ से अधिक लाभार्थियों को रुपे कार्ड जारी कर दिए गए हैं और उन्हें योजना के तहत 1-1 लाख रुपये के व्यक्तिगत दुर्घटना बीमा का लाभ भी मिलेगा। इसके अलावा योग्य लाभार्थियों को 30-30 हजार रुपये का जीवन बीमा भी दिया जा रहा है।

हालांकि इस योजना की आरंभ में खासी आलोचना की जा रही थी और इसे शून्य राशि वाले खातों की कवायद कहा जा रहा था, लेकिन वित्त मंत्रालय के अनुसार इन खातों में लगभग 9.188 करोड़ रुपये की राशि जमा की जा चुकी है। सरकारी बैंकों के प्रमुख भी कह रहे हैं कि जैसे-जैसे प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (डीबीटी) अर्थात् सब्सिडी सीधे खातों में पहुंचाने की योजना जोर पकड़ती जाएगी, वैसे-वैसे इन खातों में रकम भी बढ़ती जाएगी और बैंकिंग तंत्र को भी उसका लाभ होगा।

डीबीटी की रीढ़ 'जन धन'

वास्तव में सरकार के इस क्रांतिकारी कार्यक्रम की सबसे अधिक आवश्यकता डीबीटी के लिए ही थी। सरकार की ओर से कल्याणकारी योजनाओं के अंतर्गत जो राशि लक्षित वर्गों अथवा लाभार्थियों के लिए जारी की जाती है, उसका दुरुपयोग होना कोई नई बात नहीं है। अक्सर इसमें से ज्यादातर राशि भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाती है। इससे बचने और राशि को सीधे लाभार्थियों के खाते में पहुंचाने के लिए जन धन योजना के तहत खुले खातों को डीबीटी योजना के साथ जोड़ा जा रहा है। मंत्रालय से मिले आंकड़ों के अनुसार 15 नवंबर 2014 से अभी तक रसोई गैस सब्सिडी के मद में लगभग 1,757 करोड़ रुपये की राशि लाभार्थियों के खातों में भेजी जा चुकी है। 300 जिलों

में मनरेगा समेत कुल 35 योजनाओं को डीबीटी से जोड़ा जाना है, जिनमें 19 को जोड़ा जा चुका है। जानकार मान रह हैं कि वतर्मान वित्तीय वर्ष में डीबीटी के जरिये लगभग 3,000 करोड़ रुपये इन खातों में भेजे जाएंगे। अगले वित्त वर्ष में 15 करोड़ रुपये से भी अधिक बैंक खातों में लगभग 51,029 करोड़ रुपये की सब्सिडी राशि भेजने की सरकार की महत्वाकांक्षी योजना है, जिसमें जन धन योजना सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी।

यही वजह है कि पिछली वित्तीय समावेश योजनाओं के उलट इस बार इसमें शहरी क्षेत्रों को भी शामिल किया गया। संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार ने भी इसी तरह की योजना 2011 में आरंभ की थी, लेकिन उसमें 2000 या अधिक जनसंख्या वाले गांवों को ही लक्ष्य बनाया गया था। स्वाभाविक है कि उस योजना की बुनियाद पर डीबीटी की संकल्पना नहीं हो पाती क्योंकि शहरी गरीब परिवार उसमें उपेक्षित रह गए थे। लेकिन जन धन योजना के अंतर्गत सरकार ने सभी परिवारों को सम्मिलित करने की पूरी तैयारी की। वित्त मंत्रालय, बैंकों और सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग की साझेदारी से इसे संपन्न किया जा रहा है, जिसकी साप्ताहिक निगरानी वित्त मंत्रालय, राज्य सरकार और बैंक कर रहे हैं। खाते खोलने के लिए बैंकों के मेगा शिविर और वित्तीय साक्षरता शिविर भी योजना के महत्वपूर्ण अंग हैं। सरकार ने इसके लिए 1.23 लाख बैंक मित्र (बैंकिंग कॉरस्पॉण्डेंट) भी नियुक्त किए हैं, जो लोगों को रुपे कार्ड का प्रयोग सिखाते हैं ताकि नकद रहित लेनदेन को समाज के प्रत्येक स्तर पर बढ़ावा मिल सके।

कैसे सफल हुई योजना

प्रधानमंत्री जन धन योजना के सफल होने का सबसे पहला कारण यह है कि इसके लिए कम से कम दस्तावेजी झंझट की आवश्यकता है। असल में मामूली-सा बचत खाता खुलवाने के लिए दस्तावेज का जो पुलिंदा बैंकों में मांगा जाता है, उसी की वजह से निचले तबके के लोग अक्सर बैंकिंग सेवा से वंचित रह जाते थे। लेकिन जन धन योजना के अंतर्गत बिना दस्तावेज के भी खाते खुलवाने का प्रावधान है। इसके तहत आधार कार्ड, मतदाता पहचान पत्र, मनरेगा कार्ड को पहचान के प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। यदि किसी के पास ये तीनों भी नहीं हैं तो भी कोई दिक्कत नहीं है। वे बैंक शाखा पर स्वयं पहुंचकर खाता खुलवा सकते हैं। इसी तरह पते का प्रमाण नहीं होने पर भी किसी को खाता खुलवाने से रोका नहीं जा सकता। स्वाभाविक है कि ऐसे में 18 वर्ष से अधिक आयु के किसी भी भारतीय नागरिक को खाता खोले बगैर लौटाना बैंकों के लिए संभव ही नहीं है।

दूसरी बड़ी वजह है शून्य राशि पर खाते खुलना। आम तौर पर खाते में न्यूनतम 1,000 रुपये रखना आवश्यक है, जिसके कारण दिहाड़ी मजदूर जैसे लोग खाते खुलवाने से हिचकते थे। लेकिन बिना कोई रकम जमा किए खाता खोलने की सुविधा ने इस योजना को बेहद लोकप्रिय, व्यावहारिक और सफल बना दिया।

इतना ही नहीं, यदि मामूली-सी अतिरिक्त राशि का भुगतान कर दिया जाए तो इस योजना के अंतर्गत खुले खातों के साथ पासबुक और चेकबुक भी प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त दुर्घटना बीमा, व्यक्तिगत बीमा, ओवरड्राफ्ट की सुविधा, रुपे कार्ड और मोबाइल बैंकिंग की सुविधा भी इसकी विशेषताएं हैं।

आर्थिक विकास के लिए आवश्यक

जन धन योजना को भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण माना जा रहा है। तमाम आर्थिक विश्लेषक मान रहे हैं कि यदि इसे 100 प्रतिशत लागू किया गया तो वित्तीय अस्पृश्यता को खत्म कर देगी यानी प्रत्येक व्यक्ति बैंकिंग प्रणाली अर्थात् संगठित वित्तीय सेवाओं से जुड़ जाएगा। वास्तव में यह अभियान 1960 के दशक में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के साथ ही आरंभ कर दिया गया था, लेकिन पिछली सरकारें इसे लक्ष्य तक पहुंचाने में सफल नहीं हो सकीं। जन धन योजना इसे अंतिम व्यक्ति तक पहुंचाने के लिए एकदम सटीक मानी जा रही है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक भी मान रहे हैं कि देश के सर्वांगीण विकास के लिए इस प्रकार की योजना बेहद महत्वपूर्ण है। वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों में खरीद की जबरदस्त क्षमता है और वित्तीय संसाधन भी हैं, किंतु उन्हें संगठित तरीके से इस्तेमाल करने के लिए कोई भी साधन नहीं है। उन क्षेत्रों की वित्तीय क्षमता को निजी क्षेत्र के बैंक भी समझ रहे हैं और वहां अपनी शाखाएं खोल रहे हैं। ऐसे में जन धन योजना की मदद से वहां के वित्तीय साधन बैंकिंग प्रणाली में आएंगे, जिनका समुचित प्रयोग हो सकेगा।

इसके अतिरिक्त, ग्रामीण अंचलों में साहूकारों आदि का शिकंजा भी लोगों को परेशान करता है। यदि जन धन योजना के अंतर्गत खाते खुल जाते हैं तो किसानों को छोटी आपात आवश्यकताओं के लिए ओवरड्राफ्ट सुविधा के तहत छोटी रकम मिल सकती है और वे ऋण के पात्र भी हो सकते हैं। ❑

स्रोत:

पत्र सूचना कार्यालय, भारत सरकार (pib.nic.in)
वित्त मंत्रालय की वेबसाइट (finmin.nic.in)
दि इकनॉमिक टाइम्स (21 जनवरी, 2015)
हिंदू बिजनेस लाइन (1 सितंबर, 2014)

विकास पथ

एलईडी प्रकाश प्रयोग को प्रोत्साहन के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम

प्रधानमंत्री ने हाल ही में, घरों तथा सड़कों में एलईडी-आधारित रौशनी के लिए एक राष्ट्रीय कार्यक्रम की शुरूआत की। प्रधानमंत्री ने एलईडी बल्ब को 'प्रकाश पथ' कहते हुए प्रतीकात्मक तौर पर नयी दिल्ली में साउथ ब्लॉक में एक बल्ब के स्थान पर एलईडी बल्ब लगाया। साउथ ब्लॉक में सभी बल्बों को बदलकर एलईडी बल्बों को लगाने से हर महीने लगभग 7000 यूनिट ऊर्जा की बचत होगी।

इस अवसर पर बोलते हुए, प्रधानमंत्री ने एलईडी बल्बों के प्रसार से ऊर्जा संरक्षण को बचाने के लिए एक जनआंदोलन का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि बिजली बनाने से कहीं अधिक सस्ता है कि बिजली बचायी जाए। इसके आगे उन्होंने कहा कि बिजली बनाने से ज्यादा मुश्किल बिजली बचाना है क्योंकि, जब एक उत्पादक कंपनी विशाल मात्रा में बिजली पैदा करती है, तो बिजली की उस मात्रा को बचाने के लिए उसे करोड़ों लोगों की सक्रिय भागीदारी की आवश्यकता होती है। इसलिए उन्होंने लोगों में इसके प्रति लोगों में जागरूकता फैलाने का आह्वान किया। उन्होंने इन कार्यक्रमों में उन हस्तियों व प्रतिष्ठित नागरिकों को बड़े स्तर पर जुड़ने के लिए कहा जो लोगों में एलईडी बल्बों को अपनाने के लिए उन्हें प्रोत्साहित कर सकें। प्रधानमंत्री ने ऊर्जा दक्षता के प्रति संदेश देने व लोगों में जागरूकता पैदा करने के लिए नए तरीके सुझाते हुए कहा कि नए साल के तोहफों के तौर पर कैलेंडरों और डायरियों की जगह एलईडी दी जानी चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि कंपनियां भी लाभांश भुगतान के साथ एलईडी बांट सकती हैं।

प्रधानमंत्री ने इस योजना के जिला स्तरीय लक्ष्यों व एक लाख की जनसंख्या वाले सभी कस्बों में प्राथमिकता देते हुए कहा कि इस कार्यक्रम में उद्यमियों, प्रतिष्ठित नागरिकों व आमजन का हस्तक्षेप एक देशभक्ति का कार्य होगा क्योंकि यह आयात बिल कम करेगा और यह एक समाज सेवा का काम भी है क्योंकि यह वातावरण को भी बचाएगा। सरकार की ओर से की जा रही यह पहल, देशभर में ऊर्जा दक्षता के संदेश को फैलाने की दिशा में एक प्रयास है। एलईडी बल्बों का जीवन लंबा होता है जो आम बल्बों की अपेक्षा लगभग पचास गुना अधिक है, और यह सीएफएल से भी आठ से दस गुना अधिक चलता है। इसलिए यह मध्यम अवधि में ऊर्जा तथा लागत बचत दोनों प्रदान करती है।

एलईडी बल्ब मार्च 2015 से कई चरणों में बांटे जाएंगे। सौ शहरों के घरों व सड़कों पर एलईडी बल्ब लगाए जाने के लक्ष्य वाली यह पूरी परियोजना मार्च 2016 तक पूरा कर दी जाएगी। प्रधानमंत्री ने घरेलू बिजली बचत योजना (डीईएलपी) के अंतर्गत दिल्ली के उपभोक्ताओं द्वारा एलईडी बल्ब प्राप्त करने के आवेदनों के पंजीकरण के लिए एक वेब-आधारित प्रणाली की भी शुरूआत की। उपभोक्ता वेबसाइट (www.eeslindia.org/Delhi-Launch) पर या निर्धारित नम्बर पर एसएमएस भेजकर पंजीकरण कर सकते हैं। प्रधानमंत्री ने सबसे पहले पंजीकरण कराने वाले दिल्ली के एक आम नागरिक को दो एलईडी बल्ब प्रदान किए।

मार्च, 2015 से एलईडी बल्बों को चरणबद्ध तरीके से वितरित किया जाएगा। लक्ष्य रखा गया है कि मार्च, 2016 तक 100 शहरों में घरों और सड़कों पर एलईडी बल्ब लगाए जाने की परियोजना पूरी कर ली जाए।

दिल्ली में घरेलू उपभोक्ताओं को एलईडी बल्ब 10 रुपए के शुरूआती भुगतान पर दिए जाएंगे और 12 महीने तक प्रति बल्ब 10 रुपए उनके बिजली के बिल में से काटे जाएंगे। इस प्रकार एलईडी बल्ब, बाजार कीमत 350 से 600 रूपए प्रति बल्ब की तुलना में इस योजना के तहत घरेलू उपभोक्ताओं को प्रति बल्ब 130 रुपए की कीमत पर दिए जाएंगे। दिल्ली के घरों में एक एलईडी बल्ब लगाने से लगभग 162 रुपए की वार्षिक बचत का अनुमान है। एलईडी बल्बों की तीन साल की वारंटी होगी।

YH - 317/2014

उदीयमान बाजार और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं

आलोक शील

उभरते हुए बाजार अब वैकल्पिक संस्थाओं की तरफ बढ़ रहे हैं ताकि वे अपनी अत्यधिक बचतों का सही जगह उपयोग कर सकें। ये संस्थाएं हैं- पूर्वी एशिया में चियांग में इनिशिएटिव, एशियन इन्फ्रास्ट्रक्चर फंड और ब्रिक्स देशों का न्यू डेवलपमेंट बैंक और कंटिजेंसी रिजर्व अरेंजमेंट। ये संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ओर विश्वबैंक की भूमिका का स्थान लेंगी अब देखना ये है कि ये उदीयमान आर्थिक शक्तियां उन भूराजनैतिक सहयोग को हासिल करने में कामयाब हो पाती हैं या नहीं जैसा कि अमेरिका और यूरोप ने आपस में सहयोग करके किया था

विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अमेरिका के ब्रेटन वुड्स में एक अंतर्राष्ट्रीय समारोह के दरम्यान समझौते के तहत हुई थी। इसीलिए इन अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों को ब्रेटन वुड्स संस्थान कहा जाने लगा।

विश्व बैंक का उद्देश्य अमेरिकी संसाधनों का युद्ध से क्षतिग्रस्त यूरोप के पुनर्निर्माण के लिए उपयोग किया जाना था। जबकि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उद्देश्य वैश्विक मौद्रिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करना था जो सन् तीस के दशक में स्वर्ण मानक के ध्वस्त होने के साथ आई वैश्विक मंदी की वजह से अस्त-व्यस्त थी।

यूरोप के तेजी से हुए पुनर्निर्माण और सन् 1971 में अमेरिका के स्वर्ण मानक से हटने के बाद जब एक दूसरे के खिलाफ प्रमुख रिजर्व मुद्राओं को छोड़ दिया गया, तो उसके बाद विश्वबैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष मुख्यत: विकाशशील देशों की जरूरतों को पूरा करने में लग गए।

ये मान लिया गया था कि ये देश पूंजी की भयंकर कमी से जूझ रहे हैं जो उनमें दो अलग-अलग संरचनात्मक घाटे को बढ़ावा दे रही थी। वो दो घाटे थे चालू खाते का घाटा (करेंट अकाउंट डिफिसिट) जिसने उन्हें विदेशी बचतों तक पहुंचने के लिए प्रेरित किया और दूसरा था बचत घाटा (सेविंग डिफिसिट) क्योंकि उनकी सरकारें भयंकर वित्तीय घाटे से गुजर रही थीं चूंकि वो विकास के बड़े एजेंडों को वित्तपोषित करने में जुटी थीं जिसने बुनियादी ढांचों और सामाजिक विकास कार्यों पर विशाल सरकारी खर्चे को आवश्यक बना दिया। अक्सर राजकोषीय घाटा (फिसकल डिफिसिट) चालू खाते के घाटे (करेंट अकाउंट डिफिसिट) के रूप में परिवर्तित हो जाता। ये दोनों घाटे-यानी निवेश के मुकाबले घरेलू बचत और समग्र बचत की तुलना में सार्वजनिक बचत- विकासशील देशों में विकास की राह में बाधा माने गए।

चूंकि निजी पूंजी का प्रवाह विकासशील देशों में जोखिम की आशंका की वजह से सीमित था, तो ऐसे में वे आसान लेकिन 'सशर्त' द्विपक्षीय सहायताओं और बहुपक्षीय कर्जों पर निर्भर थे जो विश्वबैंक और क्षेत्रीय सांस्थानिक वित्तीय संस्थाओं जैसे एडीबी (एशियन डेवलपमेंट बैंक), आईएडीबी (इंटर अमेरिकन डेवलपमेंट बैंक) या एएफडीबी (अफ्रीकन डेवलपमेंट बैंक) पर निर्भर थे ताकि अपने बचत-निवेश घाटे की पूर्ति कर सकें। विश्वबैंक दोनों तरह के बुनियादी ढांचों- यानी भौतिक और सामाजिक-दोनों के लिए वित्तीय मदद मुहैया कराता था।

हालांकि इस तरह की मदद की ज्यादातर जरूरतें घरेलू मुद्राओं में होती थीं और अगर विनिमय दर के जोखिम को जोड़ लिया जाए तो ठोस मुद्रा में विश्वबैंक की मदद सस्ती नहीं होती थी। ऐसे में विकासशील देश इन राशियों को घरेलू बाजार से कर्ज लेने की वजाय फिर भी हासिल कर लेना चाहते थे क्योंकि यह उनके भुगतान संतुलन (बैलेंस ऑफ पेमेंट) की भरपाई करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष इसकी भरपाई आपातकालीन भुगतान संतुलन (बैलेंस ऑफ

लेखक भारतीय प्रशासनिक सेवा (आईएएस) के अधिकारी हैं। उन्हें विकास तथा मैक्रो-अर्थशास्त्र संबंधी नीतिगत मुद्दों पर काम करने का लगभग तीन दशकों का अनुभव हासिल है। वह जी-20 में भारत का प्रतिनिधित्व भी कर चुके हैं। वह केरल तथा भारत सरकार के वित्त विभागों में सेवा करने के साथ वाशिंगटन डीसी में कूटनीतिक जिम्मेदारी निभा चुके हैं और प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद के सचिव भी रहे हैं। ईमेल: aloksheel@aloksheel.com

पेमेंट) के द्वारा करता था क्योंकि विकासशील देश अचानक आई वित्तीय रुकावटों की वजह से नाजुक स्थिति में होते थे। सन् 1991 में खाड़ी युद्ध के बाद भारत का विदेशी मुद्रा भंडार महज 1 अरब डॉलर का रह गया था जिसने यहां भुगतान संतुलन का संकट (बैलेंस ऑफ पेमेंट) खड़ा कर दिया जिससे पूरी दुनिया का भरोसा इसकी कर्ज अदायगी की क्षमता और सेवाओं के प्रति डगमगा गया क्योंकि इसकी विदेशी मुद्रा साख को घटा दिया गया। नतीजतन भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के साथ एक वित्तीय समझौता किया जिसमें इसने कठोर 'शर्तों' का पालन करने की बात कही और उसे अपनी अंत:मुखी आर्थिक नीतियों को पूरी तरह से पुनर्गठित और उदार करना पड़ा।

उस समय, आर्थिक मामलों के विभाग के विदेशी वित्त संभाग (खंड) का मुख्य ध्यान द्विपक्षीय और बहुपक्षीय माध्यमों से दुर्लभ विदेशी मुद्रा अर्जित करने, उसके प्रबंधन और साथ ही बाहरी वाणिज्यिक उधारियों को नियंत्रित करने में लगा हुआ था ताकि अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय बाजार तक अपनी सीमित पहुंच को व्यवस्थित रखा जा सके। विनिमय दर पर सरकार नियंत्रण रखती थी और एक पृथक विदेशी मुद्रा बजट की व्यवस्था थी जिसके द्वारा दुर्लभ विदेशी मुद्रा के आबंटन को प्राथमिकता के आधार पर क्रियान्वित किया जाता था। हकीकत ये थी कि कच्चे तेल के लिए विदेशी मुद्रा की जरूरतों के मद्देनजर डीईए (आर्थिक मामलों के विभाग) में एक अलग से पीओएल (यानी पेट्रोलियम ऑयल ल्यूब्रिकेंटस) नाम का विभाग था। विदेश व्यापार विभाग का मुख्य ध्यान विदेशी मुद्रा के संरक्षण और आयात विकल्पों की ओर लगा रहता था। आर्थिक मामलों के विभाग के सबसे महत्वपूर्म खंड थे- फंड बैंक, द्विपक्षीय सहायता संभाग (बाइलेटेरल एड डिवीजन) और विदेशी वाणिज्यिक कर्ज संभाग (एक्सटर्नल कॉमर्शियल बॉरोइंग) । फंड बैंक का काम था विश्वबैंक, एशियन डेवलपमेंट बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ज्यादा से ज्यादा मात्रा में विदेशी मुद्रा हासिल करना, द्विपक्षीय सहायता संभाग का काम था विकसित देशों से निजी तौर पर सहायता हासिल करने का प्रयास करना और वाणिज्यक कर्ज संभाग (एक्सटर्नल कॉमर्शियल बॉरोइंग) का काम था एक कसे हुए नियंत्रित मानकों के अधीन बाहरी कर्ज बाजारों से उधारी लेने के लिए नियम बनाना और उसकी मंजूरी देना। एक बंद पूंजी बाजार के मद्देनजर, विदेशी निवेश का प्रवाह अस्तित्वहीन ही था।

सन् 1991 में भुगतान संतुलन संकट (बैलेंस ऑफ पेमेंट) के परिप्रेक्ष्य में हुए उदारीकरण और भारतीय अर्थव्यवस्था के खुलने के बाद, अब विदेशी मुद्रा दुलर्भ संसाधन नहीं रह गई है। विदेशी मुद्रा की बात या पीओएल बजट (यानी पेट्रोलियम ऑयल ल्यूब्रिकेंटस) अब इतिहास की बातें हो गई हैं। विदेशी वाणिज्यक कर्जों का प्रबंधन रिजर्व बैंक को दे दिया गया है, यहां तक कि विदेशी निवेश विभाग अब आर्थिक मामलों के विभाग के बराबर महत्वपूर्ण हो गया है। अब विदेश व्यापार विभाग अपना महत्व खो बैठा है क्योंकि व्यापार नीति पर वाणिज्य विभाग का वर्चस्व हो गया है जो विश्व व्यापार संगठन के साथ वार्ता करता है। द्विपक्षीय और बहुपक्षीय विभाग अभी भी हैं लेकिन उनका पूर्व का महत्व अब खत्म हो गया है, साथ ही विदेशी सहायता संभाग की भी यही स्थिति हुई है। अब उन्हें बदलाव की हवा के साथ बदलने की जरूरत है और अपने आपको पुनर्परिभाषित करने की जरूरत है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा दिए जा रहे कर्जों में कमी की मुख्य वजह मांग में कमी थी, क्योंकि निजी पूंजी के प्रवाह ने विकासशील देशों की उस विदेशी मुद्रा की कमी को भर दिया था। अपवाद सिर्फ कम आमदनी वाले देश या संघर्षों में उलझे हुए नाकामयाब देश थे जहां से निजी पूंजी ने अपना मुंह मोड़ लिया था।

ये परिवर्तन हाल के सालों में वैश्विक अर्थव्यवस्था में बड़े बदलावों को दर्शाते हैं। पिछली सदी के आखिरी काल से अहम विकासशील देशों में हुए विकास ने, जिसे अब 'उभरते हुए बाजारों' के रूप में जाना जाता है, तेजी से छलांग लगाई। ऐसा उनके द्वारा अपने बाजारों को खोलने और बाहरी मागों पर निर्भर होने की वजह से हुआ जिसे उन्होंने अपने विकास का इंजन बना लिया। उनका चालू खाता विशाल मुनाफा दर्शाने लगा। अब वे शुद्ध बचत करने वाले बन गए और पूंजी का आयात करने की वजाय उसके निर्यातक बन गए। इसका नतीजा ये हुआ कि उनके पास विशाल विदेशी मुद्रा भंडार जमा हो गया। यहां तक कि भारत जैसे उभरते हुए बाजार भी जिनका अतीत बचत और निवेश में कमी का था, वहां भी बड़ी मात्रा में पूंजी का प्रवाह हुआ। वो इतना हो गया कि उनकी क्षमताओं से ज्यादा था और उसने अचानक आने वाली रुकावटों से मुकाबला करने के लिए उन्हें तैयार कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के प्रमुख लेनदार उससे दूर होने लगे।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा दिए जा रहे कर्जों में कमी की मुख्य वजह मांग में कमी थी, क्योंकि निजी पूंजी के प्रवाह ने विकासशील देशों की उस विदेशीमुद्रा की कमी को भर दिया था। अपवाद सिर्फ कम आमदनी वाले देश या संघर्षों में उलझे हुए नाकामयाब देश थे जहां से निजी पूंजी ने अपना मुंह मोड़ लिया था। लेकिन जहां तक विश्वबैंक की बात थी तो कर्ज में कमी की वजह वहां आपूर्ति पक्ष की समस्या थी, क्योंकि कुछ वजहों से इसने बुनियादी ढांचों में दिए जा रहे कर्जों से धीरे-धीरे अपना हाथ खींच लिया था और तेजी से तरक्की कर रहे विकासशील बाजारों की बढ़ती विकास-परक जरूरतों के हिसाब से इसका संसाधन नहीं बढ़ पाया था।

यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि विश्वबैंक ने अपना ध्यान बुनियादी ढांचे में सहायता देने से हटाकर सीधे गरीबी उन्मूलन और आजीविका कार्यक्रमों की तरफ क्यों कर लिया। 3 दिसंबर 1982 को रॉबर्ट अशर को दिए अपने साक्षात्कार में महबूब अल हक (सन् सत्तर के दशक में विश्वबैंक के नीति योजना विभाग के निदेशक और मानव विकास रिपोर्ट के संस्थापक) की बात से लगता है कि ऐसा उन चिंताओं की वजह से था कि विकास का लाभ नीचे की तरफ नहीं जा पा रहा था, क्योंकि विकासशील देशों में आर्थिक विषमता बढ़ती ही जा रही थी। सामाजिक क्षेत्रों और आजीविका योजनाओं के द्वारा सीधे हस्तक्षेप करके गरीबों की आमदनी और उनकी उत्पादकता बढ़ाने को जरूरी समझा गया। वे चिंताएं हकीकत में अभी भी कायम हैं जैसा कि पहले की सरकारों के अधीन वे भारतीय आर्थिक नीति में हुए बदलाव को रेखांकित करती हैं जिसमें विकास से सामाजिक सुरक्षा तंत्र और आमदनी के पुनर्वितरण की तरफ ध्यान दिया जा रहा है। महबूब-उल-हक का वो साक्षात्कार विश्वबैंक की मौखिक इतिहास परियोजना का हिस्सा था।

गरीबी उन्मूलन की दिशा में टिकाऊ उत्पाकता पर जोर दिया जाना उल्लेखनीय है क्योंकि

गरीबी, श्रम की कम उत्पादकता का ही दूसरा नाम है। लेकिन जैसा कि अब भारत महसूस कर रहा है कि बुनियादी ढाचों में कमी, पूजी की उत्पादकता को कमजोर कर देती है जबकि सामाजिक ढाचे में विकास की कमी, श्रम की उत्पादकता को आजीविका के कार्यक्रम सामाजिक सुरक्षा तंत्र के लिए प्रभावी हो सकते हैं लेकिन गरीबी उन्मूलन में सहायक नहीं हो सकते क्योंकि लघु उत्पादक इस औद्योगिक और वैश्विक दुनिया में प्रतिस्पर्धी होने में दिक्कतों का सामना करते हैं। वह लड़ाई औद्योगिक क्रांति के साथ ही बहुत पहले ही हारी जा चुकी है। हाल के दिनों में भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में जो कमी आई है उसका कारण निवेश में हुई तीव्र कमी नहीं, बल्कि उस निवेश के नतीजों (मुनाफे) में हुई कमी है, और जिसका कारण बुनियादी ढांचों में तेजी से बढ़ती बाधाएं और सरकारी अड़चने हैं।

ब्रेटन वुड्स संस्थाओं में संसाधनों की कमी उन कारकों से और बढ़ गई जिसका कारण विकसित अर्थव्यवस्थाओं, प्रमुख भागीदारों और इसके संसाधन के योगदानकर्ता देशों में आ रही संतृप्तता, उनका धीमा विकास और उनका उच्च वित्तीय घाटा था। वे अब इन संस्थाओं के लिए संसाधन देने में अनिच्छुक और तेजी से अयोग्य होते जा रहे थे क्योंकि उन्होंने महसूस किया कि कालांतर में इसका अधिकांश तेज रफ्तार तरक्की कर रहे विकासशील देशों या उभरते बाजारों की तरफ उन्मुख हो जाएगा। भारत में हमेशा से परियोजनाओं की एक लंबी कतार रही थी जिसे विश्वबैंक का ऋण पूरा करने में नाकाम रहा था। फिर भी इन संस्थाओं के संसाधन मौलिक रूप से संकट में फंसे कम आदमनी वाले देशों की वित्तीय जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त समझे जाते थे।

जी 20 के तत्वावधान में हालिया वैश्विक संकट का जो जवाब दिया गया उसने अचानक अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भूमिका और संसाधनों में बढ़ोतरी कर दी। मुद्राकोष के संसाधन को तीनगुणा कर दिया गया ताकि एक ऐसी दुनिया में भुगतान संतुलन संकट (बैलेंस ऑफ पेमेंट) को दूर किया जा सके जिसकी विशेषता बहुत तेजी से विशाल और अस्थिर पूंजी का प्रवाह बनती जा रही थी। चूंकि बड़े उभरते बाजारों ने विशाल विदेशी मुद्रा भंडार जमा कर लिए थे तो उनके बेलआउट (वित्तीय मदद देकर उबारना) की जरूरत या उसकी संभावना कम थी जो कुछ विकसित अर्थव्यवस्थाओं में बड़ी मात्राओं में आवश्यक थी- खासकर परिधीय यूरोप के देशों में। हकीकत में अब उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाएं (ईएमईज) अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के संसाधनों में योगदानकर्ता बन गईं। अब बेलआउट के लिए विशाल पूंजी भंडार अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की वजाय या तो अमेरिका के पास हैं जो कि दुनिया के प्रमुख आरक्षी मुद्रा-डॉलर छापता है या फिर उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्था खासकर चीन के पास जिसके पास विशाल विदेशी मुद्रा भंडार है।

हालाकि विश्वबैंक द्वारा दिया जाने वाला ऋण भी ठीक-ठाक बढ़ा है, लेकिन संकट के दौरान ऐसा अस्थायी रूप से हुआ। प्रकट रूप में ऐसा आंशिक तौर पर निजी पूंजी (घरेलू और विदेशी दोनों) के हाथ खींच लिए जाने के कारण जो निवेश में खाई पैदा हो गई थी उसे पाटने के लिए हुआ। जी-20 देश एक रणनीति से यों वंचित हो गए कि वे विश्वबैंक की उधार देने की क्षमता को पर्याप्त पुनर्पूंजीकरण करके नहीं बढ़ा पाए। अगर ऐसा होता तो वह प्रभावशाली तरीके से वैश्विक बचतों का माध्यम बनकर विकासशील देशों में उच्च वृद्धि दर को टिकाऊ बनाने में मददगार साबित हो पाता। इससे वैश्विक अर्थव्यवस्था को निम्न विकास के रास्ते से उबारने में मदद मिलती जो वैश्विक आर्थिक संकट के बाद से विकसित देशों में मांग की कमी की वजह से डूब गया है। इसलिए जहां एक तरफ जी-20 के प्रोत्साहन से विश्वबैंक द्वारा बुनियादी ढांचों को दी जा रही वित्तीय मदद एक स्वागतयोग्य प्रवृत्ति थी, वहीं इसे उस प्रवृत्ति को प्रभावशाली ढंग से पूरा करने के लिए संसाधन नहीं दिए गए।

यह स्पष्ट नहीं है कि उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाओं ने जिनके पास विशाल विदेशी मुद्रा भंडार थे, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से क्यों कर्ज लिया जो कि ज्यादातर उनकी घरेलू मुद्राओं का खर्च था और जिसने उनके विदेशी कर्ज को बढ़ा ही दिया और बाहरी विचलनों/परिवर्तनों के प्रति उन्हें ज्यादा नाजुक बना दिया।

ऐसे में सवाल ये है कि ब्रिटेन वुड्स संस्थाओं (बीड्लवूआईज) के परिप्रेक्ष्य में विकासशील देश अपने आपको कहां खड़ा पाते हैं?

जहां तक विश्व बैंक का सवाल था तो भारत समेत बहुत सारी विकासशील अर्थव्यवस्थाएं उनके सबसे बड़े कर्ज लेने वाले देशों में से थीं क्योंकि उनकी विकास की जरूरतें खासकर बुनियादी ढांचे की जरूरतें बहुत ज्यादा थीं। इसलिए यह स्पष्ट नहीं है कि उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाओं ने जिनके पास विशाल विदेशी मुद्रा भंडार थे, अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से क्यों कर्ज लिया जो कि ज्यादातर उनकी घरेलू मुद्राओं का खर्च था और जिसने उनके विदेशी कर्ज को बढ़ा ही दिया और बाहरी विचलनों/परिवर्तनों के प्रति उन्हें ज्यादा नाजुक बना दिया। विकासशील देशों में जो पूंजी के प्रवाह में तेजी आई है वो मौलिक रूप से निजी पूंजी का प्रवाह है, फिर भी बहुत सारे विकासशील देशों की सरकारें अपने बुनियादी ढांचे और सामाजिक सेवाओं के लिए संसाधनों की कमी से जूझती आ रही हैं। हालांकि किसी बाहरी धक्के की सूरत में वे अपने विकास लक्ष्यों की पूर्ति घरेलू कर्जों से कर सकती हैं जिससे उनकी राह आसान ही होगी। लेकिन फिर भी अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की भूमिका अहम हो जाती है- खासकर बहु-देशीय (जिसमें कई देशों की सीमा के आर-पार का मामला हो) बुनियादी ढांचे वाली परियोजनाओं को सह-संयोजित करने और आंशिक रूप से वित्त-पोषित करने में- जिसके अभाव में पड़ोस के देश एक दूसरे पर भरोसा नहीं कर पाते हैं और चिंतित निवेशक निवेश करने में हिचकते हैं।

खैर जो भी हो, कटु वास्तविकता यही है कि विश्वबैंक के कर्जों की मात्रा प्रमुख उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाओं में उनके घरेलू स्रोतों के मुकाबले हाशिये पर ही रहने वाली है। ऐसा इसलिए कि जी-20 देशों ने विश्व बैंक संसाधनों को अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के स्तर तक बढ़ाने में बहुत कम रुचि दिखाई है। उनकी राय ये है कि ये संसाधन ज्यादातर बड़ी बाजार अर्थव्यवस्थाओं में चले जाएंगे, जिनकी वृद्धि दर भी तेज है, वित्तीय स्थिति भी पारंपरिक दाताओं से बहुत अच्छी है और उनके पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा भंडार भी है। दूसरी तरफ भारत समेत अन्य उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाएं बैंक के संसाधन इकट्ठा करने के प्रयास में शायद ही महत्वपूर्ण दाता बन पाएंगी क्योंकि उनकी अपनी विकास की विराट आवश्यकताएं हैं। सरकारों के लिए अपने देश के लोगों को

समझाना मुश्किल हो सकता है कि विश्वबैंक के प्रति क्यों अच्छी-खासी प्रतिबद्धता दर्शाई जाए जब उनके अपने बुनियादी और सामाजिक ढांचे को विकसित देशों के स्तर तक लाने के लिए विशाल धन की जरूरत है।

यही तर्क तब भी सामने आता है जब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में उनके योगदान की बात आती है, खासकर तब जब इन संसाधनों का इस्तेमाल विकसित यूरो जोन देशों को बेल आउट करने में किया जा रहा है जिनकी प्रति व्यक्ति आय तेज रफ्तार उभरती बाजार अर्थव्यवस्थाओं वाले देशों से ज्यादा है। भारत ने एक विशाल विदेशी मुद्रा भंडार जमा कर लिया था जिसने वैश्विक आर्थिक संकट के दौर में पूंजी के पलायन के दौरान इसे बचाने में मदद की जबकि इसे लगे बाहरी झटके का जोर सन् नब्बे के दशक में आए संकट से भी ज्यादा था जब देश को भुगतान संतुलन संकट का सामना करना पड़ा था। लेकिन लंबे समय में ऐसी उम्मीद है कि भारत में सकल पूंजी का प्रवाह इसके चालू खाते का घाटा (करेंट अकाउंट डिफिसिट) से ज्यादा हो जाएगा (क्योंकि मुख्य संतुलनकारी सामग्रियों में तेल की कीमतें घाटे और संतुलन के बीच का पलड़ा झुका रही हैं)। ऐसी उम्मीद है कि भारत में बड़ी मात्रा में पूंजी का प्रवाह होगा जैसा कि हालिया अतीत में हुआ भी है। संक्षेप में ये कहा जा सकता है कि इसकी संभावना ज्यादा है कि भारत अपने विदेशी मुद्रा भंडार की वजह से अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज हासिल करने की वजाय उसमें सकल योगदानकर्ता बन सकता है। इसने वैसे भी हाल के कुछ सालों में कई उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाओं के साथ अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संसाधन में योगदान करने के प्रति प्रतिबद्धता जाहिर की है।

उस हिसाब से देखा जाए तो ये उम्मीद की जा सकती है कि रणनीतिक रूप से भारत समेत ज्यादातर बड़े विकासशील देश इन दो ब्रेटन वुड्स संस्थाओं में बिल्कुल अलग जगह पर खुद को खड़े पाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रशासन के विषय जैसे कि मतदान शक्तियों में समानता और वरिष्ठ कार्यकारी पदों पर नियुक्ति सभी विकासशील देशों के लिए महत्वपूर्ण हैं, लेकिन उनकी प्रशासकीय चिंताएं एक ऐसे संगठन में ज्यादा बड़ी हैं जहां उनका दर्जा प्रमुख कर्ज लेने वाले देशों की वजाय प्रमुख योगदानकर्ता देशों में हो सकता है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में गंभीर प्रशासकीय सुधारों की जरूरत है ताकि इसे न्यायपूर्ण बनाया जा सके और उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाओं को भी ज्यादा स्वामित्व का एहसास देकर उन्हें ज्यादा योगदान करने के लिए प्रेरित किया जा सके।

इसीलिए जहां तक विश्वबैंक की बात है तो ज्यादातर विकासशील देश, देश विशेष या द्विपक्षीय केंद्रित परियोजनाओं को हासिल करना, वित्त जारी करना या परियोजना प्रबंधन जारी रखने का प्रयास करेंगे। जबकि अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की जब बात आएगी तो वे बहुपक्षीय रूप से जुड़े रहना पसंद करते हैं क्योंकि उनकी चिंता संसाधन जुटाने के तरीकों की तरफ केंद्रित हो जाती है जहां उन संसाधनों को उनकी सक्षमता, सुरक्षा, वैश्विक निगरानी और प्रशासन के दृष्टिकोण से इस्तेमाल किया जाता है। अब तक इन संस्थाओं की निगरानी और नीतिगत सलाह का ढांचा विकासशील देशों के प्रति ही केंद्रित था, क्योंकि वहीं उनके मुख्य कर्ज लेने वाले देश हुआ करते थे। लेकिन यह अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष में बदल रहा है क्योंकि यूरोपीय देश अब मुख्य कर्ज लेने वाले देश हो गए हैं। अवरुद्ध विकास दर, भुगतान संतुलन संकट, वित्तीय घाटा और कर्ज का गैर-टिकाऊ उपयोग-जो विकाशशील देशों की पारंपरिक समस्याएं थीं- इस पर विकसित अर्थव्यवस्थाओं में भी निगरानी की जरूरत है। अब उनको भी ढांचागत सुधार की उतनी ही जरूरत है जितनी विकासशील देशों को। हालांकि इस पुनर्संयोजन की संभावना कम ही दिख रही है जब तक कि इन अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रशासकीय ढांचों में प्रमुख साझीदारों की हैसियत में सुधार करके समरूपता नहीं लाई जा सके। वर्तमान में इनमें विकसित अर्थ व्यवस्थाओं का वर्चस्व है। जी-20 में भारत समेत अन्य ब्रिक्स (ब्राजील, रूस, भारत और चीन) देशों ने इन मुद्दों को उठाना शुरू कर दिया है। आम सहमति पर आने का एक तरीका ये है कि इन संस्थाओं का प्रशासन ऐसा हो जो जी-20 देशों को पारस्परिक रूप से स्वीकार्य हो। हालांकि उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाओं को भी वर्तमान की तुलना में निगरानी, शुरुआती चेतावनी और वैश्विक और क्षेत्रीय विकास अनुमानों के प्रति ज्यादा गतिविधिया दिखानी होगीं। कयोंकि इन सबका प्रभाव फंड के संसाधन की जरूरतों और उसकी उपयोगिता पर पड़ता है जिसमें वे प्रमुख योगदानकर्ता बन रहे हैं। यह चिंता विकासशील और विकसित दोनों तरह के देशों को होनी चाहिए।

इसकी संभावना ज्यादा है कि भारत अपने विदेशी मुद्रा भंडार की वजह से अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्ज हासिल करने की वजाय उसमें सकल योगदानकर्ता बन सकता है। इसने वैसे भी हाल के कुछ सालों में कई उभरती हुई बाजार अर्थव्यवस्थाओं के साथ अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के संसाधन में योगदान करने के प्रति प्रतिबद्धता जाहिर की है।

संक्षेप में कहें तो लगता है कि ब्रेटन वुड वित्तीय संस्थाएं इतिहास में अटक गई हैं क्योंकि उनके प्रशासन का ढांचा वैश्विक राजनीतिक अर्थव्यवस्था में आए बदलाव के साथ कदमताल नहीं कर पाया है। जब एक बार यूरोपीय पुनर्निमाण का काम पूरा हो गया, तो उनका संसाधन अर्थपूर्ण ढंग से नहीं बढ़ पाया। ब्रिक्स जैसी उभरती हुई आर्थिक शक्ति के मत की हिस्सेदारी बाजार मूल्य पर उनके वैश्विक सकल घरेलू उत्पाद में योगदान की तुलना में महज आधी के करीब है और खरीद सामर्थ्य समतुल्यता (पीपीपी यानी परचेंजिंग पॉवर पैरिटी) की तुलना में महज एक तिहाई है। उभरते हुए बाजारों के साथ प्रबंधन में साझीदारी के प्रति ओईसीडी देशों (ऑरगेनाइजेशन फॉर इकनॉमिक कॉपरेशन एंड डेपलपमेंट यानी आर्थिक सहयोग और विकास संगठन) की अनिच्छुकता बिल्कुल वैसी ही है जैसे संतृप्त और घटती विकास दर की वजह से उनके बढ़ते वित्तीय घाटों के प्रति संसाधनों को विस्तृत करने में जैसे-जैसे इन दोनों ब्रेटन वुड्स संस्थाओं की सीमाएं स्पष्ट हो रही हैं, उभरते हुए बाजार अब वैकल्पिक संस्थाओं की तरफ बढ़ रहे हैं ताकि वे अपनी अत्यधिक बचतों का सही जगह उपयोग कर सकें। ये संस्थाएं हैं- पूर्वी एशिया में चियांग में इनिशिएटिव, एशियन इन्फ्रास्ट्रक्चर फंड और ब्रिक्स देशों का न्यू डेवलपमेंट बैंक और कंटिंजेंसी रिजर्व अरेंजमेंट। ये संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ओर विश्वबैंक की भूमिका का स्थान लेंगी (चियांग में और कंटीजेंसी रिसर्व एग्रीमेंट, आईएमएफ का और न्यू डेवलपमेंट बैंक और एशियन इंफ्रास्ट्रक्चर बैंक विश्व बैंक का।) अब देखना ये है कि ये उदीयमान आर्थिक शक्तियां उन भूराजनैतिक सहयोग को हासिल करने में कामयाब हो पाती हैं या नहीं जैसा कि अमेरिका और यूरोप ने आपस में सहयोग करके किया था। ❑

विविधता का उत्सवः भारत की सफलता की कुंजी

आश नारायण राय

बहुसांस्कृतिक समाज में संघवाद एक आकर्षक विकल्प हो सकता है। अनेकता और एकता का योग संघवाद में मौजूद है जो बहुसांस्कृतिक समाज को केक को पाने के साथ खाने की भी सुविधा प्रदान करता है। उप-राष्ट्रीय इकाइयों में यह अल्पसंख्यक को भी बहुसंख्यक हैसियत उपलब्ध कराता है। यह विभिन्न भाषाओं, धर्म और संस्कृतियों को मान्यता और स्वीकार्यता का अवसर मुहैया कराता है। यह अनेकता का आलिंगन करता है, यह सकारात्मक रूप से अनेकता की कद्र करता है, यह अनेकता को प्रोन्नत कर सकता है और अंततः इसके फायदे उठा सकता है

इन दिनों संघवाद नवजागरण के दौर से गुजर रहा है। बीते दो दशकों में एक पुनरुद्धार हुआ है जिसे दुनिया भर में राजनीति का संघीय समाधान की संज्ञा दी गयी है। बीते वर्षों में जहां भारत साझा सरकार के कारण फेडरल गवर्नेंस के कुछ और समीप पहुंचा है, वहीं बेल्जियम ने पूर्णरूपेण संघीय राज्य के लिए अपने संविधान तक में परिवर्तन किया है। रंगभेदी राजनीतिक व्यवस्था के खात्मे के बाद दक्षिण अफ्रीका ने अपने संविधान में कई संघीय तत्व शामिल किए हैं। यह बात और है कि ये तत्व कुछ कमजोर भी हुए हैं। इसके बावजूद संघवाद दक्षिण अफ्रीका की प्रजातांत्रिक राजनीति का सुंदर भविष्य हो सकता है।

ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह कि अब एकल राज्य और गैर-संघीय राज्य भी स्थानीय निकायी संस्थाओं में सत्ता तक का विकेंद्रीकरण कर संघीय आचरण का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं (स्पेन और यूके)। यमन ने राष्ट्रीय संवाद सम्मेलन के जरिये संघवाद को अपनाया है। यद्यपि खाड़ी के देशों में धन के बल पर चल रहे आधे-अधूरे समाधान ने प्रगति को अवरुद्ध कर रखा है। इराक, नेपाल, सूडान और कुछ अन्य देशों ने भी संघवाद के प्रति गहरा आकर्षण दिखाया है। कह सकते हैं कि संघवाद का समय आ गया है।

आखिर संघवाद में अंतरराष्ट्रीय आकर्षण क्यों है? दुनिया भर में संघवाद के प्रति बढ़ रहे आकर्षण के कारण वे मूल्य हैं जो संघीय प्रणाली ने सामने लाये हैं। यह नागरिकों को विविधता में एकता के साथ जीने का साधन उपलब्ध कराता है। यह सांस्कृतिक, भाषाई और धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपनी पहचान विकसित करने की छूट देता है। संघवाद सत्ता के विकेंद्रीकरण का बेहतर अवसर मुहैया कराता है और राजनीतिक प्रक्रिया को जमीन से जोड़ता है। संघवाद के प्रति बढ़ती अपील की एक वजह इसका लचीलापन भी है। यह नयी जरूरत और परिस्थितियों के मुताबिक अपने आप चीजों को अपनाता है। कम से कम 25 संघीय देशों के बीच कुछ निश्चित समानताएं हैं लेकिन सत्ता के बंटवारे, वित्तीय संघवाद और संघीय संस्थाओं की दृष्टि से वे अक्सर भिन्न दिखते हैं। दरअसल, संघवाद की सफलता और असफलता अंततः संघीय संस्थाओं और निर्णय करने की प्रक्रिया पर निर्भर नहीं करती, बल्कि यह देशविशेष की राजनीतिक संस्कृति पर निर्भर करती है।

निश्चित ही संघवाद का कोई एक मॉडल नहीं है जिसका अनुकरण किया जाये। यह विभिन्न मिट्टी पर भिन्न तरीकों से पनपता है। जरूरी नहीं कि किसी राज्य के सफल संघवाद के तरीके दूसरे राज्य में हू-ब-हू लागू हो जाएं लेकिन एक-दूसरे के अनुभव से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। आप अगर संघवाद स्थापित करना चाहते हैं तो आपको इसका डिजायन और मॉडल बनाने की जरूरत होगी लेकिन ध्यान रहे आप इसकी खोज करने नहीं जा रहे। संघर्ष से गुजरे समाज में संघवाद की स्थापना बहुत मुश्किल काम है। तब यह आसानी से आकार नहीं लेता। कुदरत की तरह यह बस होता है। इसे पालना पड़ता है। इस पर काम करना पड़ता है। संघवाद कोई हकीकत के सामने रखा आईना नहीं है, बल्कि एक हथौड़ा है जिससे इसे सही रूप दिया जा सके। संघवाद

लेखक इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, नयी दिल्ली में निदेशक हैं। इराक, मैक्सिको, नेपाल, ईथोपिया तथा यमन में संघवाद विषयक अंतर्राष्ट्रीय कार्यशालाओं में शिरकत करने के साथ ही वह लोकतंत्र, स्थानीय शासन, संघवाद, वैश्वीकरण, भारतीय विदेश नीति तथा अरब जगत जैसे विषयों पर प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में अनेक आलेख लिख चके हैं। ईमेलः ashnarainroy@gmail.com

प्रोत्साहित करता है, कभी-कभी जनता को अच्छा बनने के लिए और तदनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करता है। जो राजनीतिक व्यवस्था संघीय ढांचे पर खड़ी होगी वह नये सूबे को स्थिर रखने में ज्यादा काबिल होगी।

विविधता का उत्सव

हम एक ऐसे ब्रह्मांड में रहते हैं जिसे विविधता के लिए जाना जाता है। विविधता जीवन का स्वाद है। जैसा कि अमर्त्य सेन कहते हैं एकल पहचान मनुष्य को लघुकरण (मिनीएचूराइजेशन ऑफ ह्यूमैन बीइंस) की ओर ले जाती है। यह विश्व-समाज को अलगाव, हिंसा और यहां तक कि आंतकवाद की ओर धकेलता है। विविधता एक पूंजी है न कि बोझ। अनेकता आफत की सामग्री नहीं, बल्कि अगर कल्पनाशीलता के साथ व्यवस्थित किया जाये तो ताकत है। अनेकता के प्रति अगर सम्मान हो तो यह राष्ट्र को एकजुट रखेगी। राज्य एक है लेकिन राष्ट्र बहुविद् है। अनेकता एक प्रतियोगी ताकत है जो नवाचार को बढ़ावा देती है।

इक्कीसवीं सदी में बहुसांस्कृतिक समाज का प्रचलन आकार ले रहा है। वैश्वीकरण और द्रुत संचार के साधन, लोगों के पलायन, मान्यताओं और विचारों की बहुलता आदि के बढ़ने के कारण भविष्य की दुनिया निश्चित रूप से मिश्रित आबादी वाली होगी। यह दुनिया का बदलता रूप होगा। प्रोफेसर भिखू पारेख के अनुसार,' एक सांस्कृतिक एकल समाज जिसमें लोग मशीन की तरह एक ही मान्यता का अनुकरण और आदान-प्रदान करते हों आज संभव नहीं है। यह बात अब मानवशास्त्रीय कल्पना लगती है।' आबादियों की आवाजाही और वैश्वीकरण ने संघवाद को एक नया जीवन दे दिया है। इसके इतर यह भी सच है कि अगर बहुसांस्कृतिक समाज ने सहजीवन की कला नहीं सीखी तो इसके भीषण नतीजे होंगे। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि बहुसांस्कृतिक समाज हमारे युग के लिए कोई नई बात है।

आधुनिक युग से पहले के कई पुराने समाज में सांस्कृतिक विविधता के तत्व थे। इनमें रोम साम्राज्य, मध्यकालीन भारत और ऑटोमन साम्राज्य प्रमुख हैं। कुछ समाज में तो अलग-अलग सांस्कृतिक समूह के लोग लंबे अर्से तक साथ जीवन जीते रहे। कुछ अन्य समाज में तो सांस्कृतिक भिन्नता ने पलायन की हालिया प्रथा के परिणामस्वरूप आकार लिया। कुछ देशों में सांस्कृतिक समूह भौगोलिक तौर पर चिह्नित हैं जबकि कुछ देशों में ऐसा नहीं है। कुछ देशों में बहुसांस्कृतिक समाज शांतिपूर्वक सौहार्दपूर्ण है, जबकि कुछ देशों में इनके बीच हिंसक टकराव है।

कई समाज अपनी विविधता को स्वीकार नहीं करते और इसे छिपाने की कोशिश करते हैं। कुछ समाज अपनी बहुलता को आबादी के स्थानांतरण से सुलझाने की मांग करते हैं तो कुछ इसे 'मेल्टिंग पॉट' (समाजशास्त्र की एक अवधारणा जिसमें बहुसांस्कृतिक समाज के अंतत एकलसांस्कृतिक होने की अवधारणा है) की नीति के द्वारा सुलझाना चाहते हैं। लेकिन बहुलता को व्यवस्थित करने का सबसे सही तरीका स्वशासन और साझा शासन के योग से निकलता है। यह अनेकता का उत्सव जैसा है जो समाज और राष्ट्र को ताकत देता है।

बहुसांस्कृतिक समाज में संघवाद एक आकर्षक विकल्प हो सकता है। अनेकता और एकता का योग संघवाद में मौजूद है जो बहुसांस्कृतिक समाज को केक को पाने के साथ खाने की भी सुविधा प्रदान करता है। उप-राष्ट्रीय इकाइयों में यह अल्पसंख्यक को भी बहुसंख्यक हैसियत उपलब्ध कराता है। यह विभिन्न भाषाओं, धर्म और संस्कृतियों को मान्यता और स्वीकार्यता का अवसर मुहैया कराता है। यह अनेकता का आलिंगन करता है, यह सकारात्मक रूप से अनेकता की कद्र करता है, यह अनेकता को प्रोन्नत कर सकता है और अंततः इसके फायदे उठा सकता है।

भारत का अनोखा बहुलतावाद

एक देश और समाज के स्तर पर देखें तो भारत हर स्तर की बात को समाहित करने की क्षमता रखता है। जैसा कि यूआर अनंतमूर्ति कहते हैं, भारत में लोग एक ही समय में 12वीं और 21वीं सदी में जीते हैं और इसके बीच सभी शताब्दियां मौजूद रहती हैं। भारत इतना जटिल है कि किसी एक सिरे से इसे परिभाषित नहीं किया जा सकता। सदियों का इतिहास और इसके कई रूपों वाली अनेकता का अर्थ यह है कि इसे कई तरह से देखा जा सकता है कि वास्तव में भारत का मतलब है क्या। प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक मार्क ट्वाइन ने 1896 में भारत की यात्रा करते समय कहा था, 'ऐसा कुछ भी जो ईश्वर और इंसान कर सकते हैं वे सब यहां किये जा चुके हैं।'

अगर लोग, संस्कृति, भाषा और धर्म के लिहाज से देखें तो भारत अथाह बहुलता का देश है। यह सांस्कृतिक गुण है जो भारतीय अनुभव को अनोखा बनाता है। यह स्थान और काल के बीच कभी निस्तेज नहीं हुआ। विभिन्न समूहों के लोगों की अपनी पहचान और मौलिक परंपरा है। सामाजिक निर्वात में इसका अस्तित्व नहीं हो सकता। भारतीय बहुलता केवल संख्यात्मक नहीं है, बल्कि यह जीवंत और ग्राह्य है।

महान ब्रिटिश इतिहासकार ईपी थाम्पसन ने कहा था,'भविष्य के लिए भारत शायद दुनिया का सर्वाधिक महत्वपूर्ण देश है। दुनिया के सभी समावेशी वैचारिक प्रभाव यहां के समाज में पलते हैं- हिंदू, मुस्लिम, ईसाई, सेकुलर, स्टालिनवादी, उदारवादी, माओवादी, प्रजातांत्रिक समाजवादी, गांधीवादी। ऐसा कोई भी चिंतन नहीं है जो पश्चिम और पूरब में हुआ हो और वह किसी भारतीय के जेहन में सक्रिय न हो।' भारत एक जटिल एकता को अनेकता के माध्यम से जीता है। यह एक ऐसा समाज है जहां अनेकता का उत्सव आधुनिक राष्ट्र की गांठ को मजबूती प्रदान करता है। देश की अतुल्य बहुलता ने विभिन्न दिशाओं की अनेक धाराओं के लोगों को विभिन्न कालखंडों में आकर्षित किया है। बदलते अनुपात के साथ भारतीय आबादी का बड़ा हिस्सा नस्ली समावेश को ही दर्शाता है। कई जगह देखा गया है कि प्रभावी संस्कृतियां अन्य संस्कृतियों को अपने में सोख लेने या उसे खत्म करने की प्रवृति रखती हैं लेकिन इसके इतर भारत में बहुलता को बढ़ावा देने की प्रवृति रही है।

संस्कृति, अतीत, विरासत, स्मृति,परंपरा और रीतियों का वाहन भर नहीं है। संस्कृति, धर्म, भाषा की अनेकता वह मूल्य हैं जिन्हें समाज बनाता है। भारत एक बहुलतावादी समाज और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। टीएन मदन के अनुसार, भारतीय धर्मनिरपेक्षता वास्तव में यहां की बहुलतावाद है। इसैआ बर्लिन कहते हैं 'बहुलतावाद एक संकल्पना है, जिसमें कई सिरे होते हैं और हर सिरों के चाहने वाले भी होते हैं। इसके बावजूद लोग पूरी तरह मिलनसार होते हैं। वे एक-दूसरे को समझने में सक्षम होते हैं और एक-दूसरे से रोशनी प्राप्त करते हैं। स्थान और काल की यात्रा में विभिन्न संस्कृतियों के बीच संवाद की गुंजाइश केवल इसलिए संभव है क्योंकि जो बात आदमी को इंसान बनाती है वह दोनों

जगह है। और यही बात दोनों के बीच पुल का काम करती है। (इसैआ बर्लिन, द प्रोपर स्टडी ऑफ मैनकाइंड 1977)'

भारत ने समाहित करने और मेल्टिंग पॉट के मॉडलों को अस्वीकारा है। इसके बदले इसने 'सलाद बाउल' और 'ग्लोरियस मोजाइक' जैसे मुहावरों को पसंद किया है, जिनमें सभी एथनिक और सांस्कृतिक तत्व अपनी खासियतों को बरकरार रखते हैं। महात्मा गांधी की प्रसिद्ध पंक्तियां भारत की अनेकता में एकता की खुशबू को दर्शाती हैं- 'मैं नहीं चाहता कि मेरे घर में हर ओर दीवार हो और मेरी खिड़कियां ढक जायें। मैं चाहता हूं कि जितना संभव हो सके सभी भूमियों की संस्कृतियां मेरे घर से बेरोकटोक बहें। लेकिन कोई मेरे पैर को उड़ा ले यह मैं अस्वीकार करता हूं। (एस कुप्स के लेख ऑन द कल्चरल रैमपार्ट्स में उल्लेखित, इंटरनेशनल हेराल्ड ट्राइब्यून, 17 नवंबर 1998)

अनेकता में एकता

एक समय था जब अनेकता कई नवस्वतंत्र देशों के लिए अमोघ मंत्र था। यह मंत्र विविध अवसरों पर बारंबार उच्चारा जाता रहा। कई देशों ने इस मुहावरे को अपने देश के संविधान तक में शामिल किया। बाद में एक और आकर्षक मुहावरे का फैशन चला - अनेकता के जरिए एकता। भारत ने जिस मॉडल को अंगीकार किया वह 'अनेकता में एकता' के रूप में विश्लेषित हुआ। भारत ने न सिर्फ इसकी कद्र की बल्कि संस्कृति, धर्म, भाषाओं का लुफ्त भी उठाया। संस्कृति, धर्म, विचार और परंपरा के नियमित आदान-प्रदान से एक खास प्रकार की सांस्कृतिक प्रगति हुई।

आखिर भारत की सफलता का राज क्या है? संघवाद भारत की प्रजातांत्रिक महल की नींव है। भारत जैसे विशाल अथाह विविधता वाले देश में संघवाद राष्ट्रीय पहचान और राष्ट्रीय उम्मीद के रूप में सामने आया है। यह भारत की बहुलता को अक्षुण्ण रखने की कुंजी है। भारत की कामयाबी का राज यह मान्यता है कि राष्ट्र किसी एक समुदाय का नहीं है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गांधीजी ने कहा था कि ''किसी भी समूह को कोई भी विशेषाधिकार नहीं भले ही यह बड़े बहुसंख्यकों के बीच हुआ हो और अल्पसंख्यक समूह (धार्मिक, भाषाई, सामाजिक-सांस्कृतिक) की बहुसंख्यकवादी एजेंडा से रक्षा की जायेगी।'

अनेकता में एकता महज एक नारा नहीं है, बल्कि जीवन का सच है और यह प्रजातंत्र, संघवाद, सहिष्णुता और धर्मनिरपेक्षता पर आधारित है। भारतीय सभ्यता शुरू से बहुलतावादी चरित्र की रही है। भारतीय सभ्यता बहुलतावादी और संयोजित परंपरा की है जिसने वैदिक काल में आकार लेना शुरू किया। बाद में बुद्ध और जैन धर्म के विचारों ने पूरक की भूमिका निभायी। शुरुआती मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के जरिये यह और आगे बढ़ी।

मेक्सिको के नोबल विजेता अक्टाविया पॉज ने एक दिलचस्प बात कही है। भारत की अनोखी और परिसंबर्धित संस्कृति का उल्लेख करते वे कहते हैं 'यह कहना मुश्किल है कि हिंदुत्व और इस्लाम एक जगह रहने वाली दो सभ्यताएं हैं या ये दो धर्म हैं जो एक सभ्यता द्वारा पोषित हैं' लेकिन भारत एक विरोधाभास है। यह एक संघ है। यह एक बहुलतावादी समाज भी है। बहुलतावादी होने और संघ होने में अंतर है। बहुलतावादी समाज एकल राज्य में भी हो सकता है। सक्तियों का हस्तांतरण, सत्ता का विकेंद्रीकरण और सभी नागरिकों के मौलिक अधिकारों की गारंटी भारतीय संघ में मौजूद है।

भाषा और अल्पसंख्यकों के अधिकार

भारतीय संविधान ने अपने नागरिकों के मौलिक अधिकारों के साथ उनकी धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए संवैधानिक सुरक्षा-प्रावधान कर रखे हैं। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि भारत एक धर्म निरपेक्ष देश है। धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार मौलिक अधिकारों के तहत सुनिश्चित किये गये हैं। किसी भी धर्म के अनुयायी को अपने धर्म की आराधना, व्यवहार और बढ़ावे की स्वतंत्रता होगी।

बहुत पहले ही भारत ने अल्पसंख्यकों को लेकर अपनी मान्यता बना ली थी। इस पर स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं ने जो स्टैंड लिया था वह था - 'किसी भी देश में तब तक स्थायी साम्यास्था नहीं आ सकती जब तक अल्पसंख्यकों को कुचलने का प्रयास किया जाता रहेगा उन्हें बहुसंख्यकों के अनुरूप रहने के लिए मजबूर किया जाएगा। हम भारत में सभी को स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि हमारी नीति अल्पसंख्यकों को स्वतंत्रता देने की होगी। किसी भी परिस्थिति में उन्हें दबाने और कुचलने की बात को बर्दाश्त नहीं किया जायेगा। भारत अपनी जनता के कारण धर्म निरपेक्ष है। इसकी संस्कृति और राष्ट्रीय परंपरा धर्म निरपेक्ष है। धर्म निरपेक्षता भारत की प्रकट नियति है।

भारतीय धर्म निरपेक्षता कभी भी धार्मिकता और धार्मिक उत्सव को हतोत्साहित नहीं करती। भारत की सामाजिक संरचना काफी हद तक धर्म से जुड़ी हुई है। पिछले कुछ वर्षों में कुछ लोगों के लिए धर्म निरपेक्षता एक चुनावी अवधारणा बन गयी है, जहां धर्म निरपेक्षता के समर्थक तर्क देते हैं कि भारत पूर्ण रूपेण धर्म निरपेक्ष नहीं हुआ है। दूसरी ओर धर्म निरपेक्षता के आलोचक छद्म निरपेक्षता और अल्पसंख्यकों के परिपोषण की स्थिति की आलोचना करते हैं। धर्म निरपेक्षता भारतीय प्रजातंत्र के लिए अभिन्न है। धर्म निरपेक्षता की उपयोगिता और इसकी सीमा को लेकर हो रही बहस धर्म निरपेक्षता को किसी भी तरह कम महत्वपूर्ण नहीं बनाती।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया की कुछ बातों ने भय बढ़ाया है जोकि वास्तविक और अनुभव आधारित है। इनमें संस्कृतियों के एकीकरण, पहचान, भाषाई, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक परंपराओं के विस्मरण के कारण हो रही संस्कृतियों की टूट की बात शामिल है। भारतीय संस्कृति ने दिखाया है कि वह लचीली है। भारतीय संस्कृति सतत बाह्य प्रभाव से उन्नत हुई है। यह सतत पुनर्जागरण, नवीनीकरण और नवअंकुरण से गुजरती रही है।

भारत के पास दुनिया को देने के लिए बहुत कुछ है। अनेकता के जीने का अनुभव इनमें खास है। और हां, अब भी भारतीय अनेकता को चुनौती नहीं दी जा सकती। यद्यपि भारत ने दुनिया के देशों के बीच अनेकता में एकता का मॉडल रखा है, लेकिन यह भी सच है कि आर्थिक असमानता, धार्मिक कट्टरता और नस्ली टकराव के कारण सबसे ज्यादा खतरा एकता को ही है। संस्कृति, धर्म और नस्ल के नाम पर सांप्रदायिक हिंसा हुई है।

आधुनिक समाज तेजी से बहु-सांस्कृतिक हो रहा है। वर्चस्व वाले समूहों के आचरण पर हर समाज गंभीर नजर रख रहा है। किसी भी तरह धर्म निरपेक्षता का यह अर्थ नहीं है कि वह अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता को वैध बनाती है। जैसा कि प्रोफेसर शिव विश्वनाथन कहते हैं,' धर्म निरपेक्षता अल्पसंख्यकों के कानून उल्लंघन को बहुसंख्यकों के पूर्वाग्रह से बेहतर नहीं मानती।' भारत की भाषाई विविधता भी समान रूप से सम्मोहक है। भाषा समूह संस्कृति और पहचान का मजबूत प्रतीक है।

भारत में कई लेखक वह भाषा नहीं बोलते जिसमें वे लेखन करते हैं। व्यापक भारत का एक अनोखा रूपक यह है कि एक ही व्यक्ति विभिन्न अवसरों पर विभिन्न उद्देश्य के लिए अलग-अलग भाषा और बोली का उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए पूर्वोत्तर की खासी जनजाति की महिलाएं स्त्री-बोली में बात करती हैं लेकिन जब पुरुष से संवाद करती हैं तो उनकी बोली पुरुष-बोली हो जाती है।

देश के विभिन्न भागों के भाषाई आंदोलन ने भारत की एकता और अखंडता पर गंभीर खतरा पैदा कर दिया है। हालांकि राजनीतिक नेतृत्व ने व्यापक सियासी स्वतंत्रता दिखायी है। उन्होंने न सिर्फ बड़ी भाषा को राष्ट्रीय भाषा के रूप में मान्यता दी है, बल्कि भाषाई राज्य का गठन भी किया है।

अनेकता में एकता के भारतीय विचार में समावेशीकरण और खुलापन भी है, जो समय और इतिहास की परीक्षा में खरा उतरा है। धर्म निरपेक्ष और प्रजातांत्रिक संविधान के तहत कानून के राज और मौलिक मानवाधिकारों का सम्मान करते हुए आर्थिक प्रगति, सामाजिक और सियासी सशक्तिकरण के लिए भारत ने जो प्रयोग किये हैं वे उसे विश्व में खास स्थान दिलाते हैं।

सभी ने माना है कि बहुसांस्कृतिक सहजीवन के लिहाज से शायद भारत महानतम अनुप्रयोग है। यूएनडीपी ने 2004 की अपनी रिपोर्ट में इस वहम को खारिज किया है कि सांस्कृतिक विविधता सभ्यताओं में टकराव पैदा करेगी। इसमें कहा गया है कि अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा और विविधता विकास के लिए अहम है। महत्वपूर्ण बात यह कि इस रिपोर्ट में दिखाया गया है कि भारत एक नजीर है कि 'कैसे गरीब और बहुलतापूर्ण देश बहुसांस्कृतिक नीतियों के साथ बेहतर काम कर सकते हैं।' भारतीय अनुभव कहता है कि कोई भी संस्कृति पूरी तरह निर्दोष नहीं है और न ही सर्वश्रेष्ठ जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। विभिन्न संस्कृतियों के बीच महत्वपूर्ण संवाद से देश और समाज लाभान्वित होते हैं। ❑

(पृष्ठ 12 का शेषांश)

बुनियादी सुविधाएं पूरी करने से पहले राज्यों के राजकोषीय ज़िम्मेदारियों तथा बजटीय प्रबंधन को निर्धारित कर दिया जाए।

निष्कर्षत: भारत एक अद्भुत सहकारी संघवाद है। स्थानीय सरकार अब भारत का एक अटूट हिस्सा है। इसमें नीचे से ऊपर के नियोजन की ज़बरदस्त क्षमता है। जानबूझकर नीति विकल्पों और बढ़ावा देने वाले सहायक उपायों के माध्यम से ही उन्हें जीवंत या व्यावहारिक बनाने के लक्ष्य को पाया जा सकता है। आर्थिक सुधार की खोज में, यह चूक होने की संभावना है। ❑

संदर्भ:

केरल सरकार (1996): विकेन्द्रीकरण पर एस बी सेन समिति की अंतरिम रिपोर्ट
केरल सरकार (1996): विकेन्द्रीकरण पर एस बी सेन समिति की अंतिम रिपोर्ट, खंड-II
केरल सरकार (1996): विकेन्द्रित नियोजन पर गठित समिति की रिपोर्ट
योजना आयोग, भारत सरकार (2011): केन्द्र प्रायोजित योजनाओं के पुनर्गठन पर गठित समिति की रिपोर्ट
पंचायती राज मंत्रालय, भारत सरकार (2013): 'संपूर्ण पंचायती राज की ओर', रिपोर्ट
पश्चिम बंगाल सरकार (2008): तीसरे राज्य वित्त आयोग की रिपोर्ट
आईजैक थामस टीएम तथा रिचर्ड फ्रैंक (2000): स्थानीय लोकतंत्र और विकास, लेफ्ट वर्ल्ड, नयी दिल्ली
केरल सरकार (2000): आर्थिक सर्वेक्षण, राज्य योजना आयोग

YH - 318/2014

भारत में सहयोगात्मक संघवाद, विवाद और विरोधाभास

वंदना मिश्रा

भारत जैसे बहु-सांस्कृतिक, बहु-नस्लीय और बहु-भाषीय स्वरूप वाले देश में सिर्फ संघवाद की भावना ही इस देश की अंदरूनी विविधता में सामंजस्य ला सकती थी। सिर्फ आपसी सहयोग और सामंजस्य की भावना ही परस्पर विरोधी समूहों (क्षेत्रीय, धार्मिक, भाषाई और नस्लीय) की उग्रता को थामने का काम कर सकती है। लेकिन आजादी के बाद की विविधता में बाहुल्य ने हमारे सामने एक ऊबड़-खाबर जमीन की तस्वीर भी पेश की है

इस आलेख में मैं भारत में एक सहयोगात्मक संघवाद के ढांचे में संभावित विवाद और उसके अंतर्निहित विरोधाभासों के बारे में एक संक्षिप्त विवरण पेश करना चाहती हूं। यह कोई वृहत विश्लेष्णात्मक कथानक कहने की कोशिश नहीं है बल्कि मौजूदा राजनीतिक संदर्भ में उन मूलभूत अस्पष्टताओं पर प्रकाश डालने की कोशिश है जो सहयोगात्मक संघवाद में काम कर रही है। साथ ही यह आलेख मेरे आशावादी चिंतनों को व्यक्त करने की भी एक कोशिश है जो भारतीय परिस्थितियों में सहयोगात्मक संघवाद के सिद्धांत की क्षमता के समर्थन में है, बजाय इसके कि मैं इसे एक बेहतरीन संभावित विकल्प कहकर खारिज कर दूं। इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि संसदीय-संघीय व्यवस्था जिसे भारत ने अपनाया, वह भारतीय जरूरतों के हिसाब से बिल्कुल उपयुक्त है। ग्रेनविल ऑस्टिन ने कहा था, वास्तव में संविधान सभा ने भारत की विशेष जरूरतों को पूरा करने के लिए एक नए तरह के संघवाद को जन्म दिया लेकिन भारत की विशेष जरूरत तब से लेकर कई गुणा वृहदाकार हो चुकी है और इस तरह से सरकार के सभी तीनों स्तरों-केंद्र, राज्य और स्थानीय-स्तर पर उन इच्छित सहयोग को सूचीबद्ध करने की चुनौती डाल रही है। इसलिए हम भारत में सहयोगात्म संघवाद की कार्यप्रणाली में कुछ विषय-वस्तु से संबंधित मुद्दों पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे।

पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक तौर पर देखें तो संघवाद की अवधारणा अपनाना भारत के लिए चुनाव से ज्यादा एक आवश्यकता थी। देश में विखंडनवाद की प्रवृत्तियों की मौजूदगी धार्मिक-साम्प्रदायिक पागलपन और देश के विभाजन ने एक केंद्रीकृत संघात्मक व्यवस्था की जरूरत को सामने रख दिया। एक सांस्कृतिक और क्षेत्रीय रूप से विविधता लिए हुए देश पर शासन करने की व्यावहारिक चुनौती ब्रिटिश शासन के सामने बहुत पहले आन खड़ी हुई थी और इस तरह से सांविधानिक सुधार पर मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट लाई गई (1918) जिसने कहा कि भारत भविष्य की हमारी अवधारणा में राज्यों का एक संघ होगा जिसमें विशुद्ध किस्म के सभी स्थानीय या प्रांतीय विषयों पर स्वशासन की व्यवस्था होगी। राज्यों के इसी समूह के ऊपर केंद्र सरकार काम करेगी। इस रिपोर्ट के आधार पर सन् 1919 में भारत सरकार ने राज्यों को कुछ अधिकार और शक्तियां दे दीं। राज्यों को राजस्व के स्रोतों मसलन भू-राजस्व, स्वास्थ्य, कृषि, सिचाई और सार्वनजिक कार्यों पर स्पष्ट अधिकार मिल गए। हालांकि इस कानून से प्रांतीय अधिकारियों को कुछ हद तक निश्चित मात्रा में स्वायत्तता जरूर मिली लेकिन भारत सरकार एकात्मक सरकार ही बनी रही। साइमन कमीशन की रिपोर्ट (1929) ने भी कुछ वित्तीय शक्तियों जैसे आयकर से हुई आमदनी को राज्यों और केंद्र के बीच में बांटने का प्रस्ताव दिया। आखिरकार भारत सरकार अधिनियन, 1935 ने एक संघीय किस्म की व्यवस्था का प्रस्ताव किया जिसमें एक केंद्र होता और स्वायत्त राज्य होते। उसमें गवर्नर-जनरल को ये अधिकार था कि वो प्रांतीय सरकारों के फैसलों को खारिज कर सकता था या अपना फैसला प्रांतों पर लागू कर सकता था। उस कानून ने केंद्र और प्रान्तों के लिए अलग-अलग विधायी, वित्तीय और

लेखिका दिल्ली विश्वविद्यालय के मोतीलाल नेहरू कॉलेज में राजनीति विज्ञान विभाग की असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। लोक प्रशासन व लोकनीति उनके पसंदीदा विषय हैं। इन विषयों पर वह प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में लगातार लिखती रही हैं। ईमेल: vmishra@gmail.com

न्यायिक अधिकार क्षेत्र का प्रावधान किया लेकिन उस प्रक्रिया में प्रांतीय विधायिकाओं की स्वयंभू स्थिति को भी कमजोर कर दिया जिसकी सबसे ज्यादा इच्छा देसी रजवाड़े कर रहे थे। फिर सन् 1946 के कैबिनेट मिशन योजना के तहत एक ढीले-ढाले बेतरतीब संघ का प्रस्ताव सामने रखा गया। एक ढीलेढाले संघ के लिए रखे जा रहे ये सारे प्रस्ताव एन नये उभरते हुए राष्ट्रवादी संभ्रांत वर्ग के लिए एक महत्वहीन कागजात के समान थे जो एक केंद्रीकृत संघीय व्यवस्था के पक्ष में था। इसका नतीजा एक भारी-भरकम केंद्रीकृत संसदीय संघीय-व्यवस्था के रूप में सामने आया जिस पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद और राष्ट्रवादी आन्दोलन से उपजे हस्तक्षेपों का दोहरा असर था।

हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान की धारा 246 और अनुच्छेद-7 के अधीन एक संघीय सरकार की व्यवस्था की लेकिन उन्होंने स्पष्ट-तौर पर फेडरेशन शब्द का इस्तेमाल नहीं किया क्योंकि उनकी निगाह में यह 'राष्ट्र की एकता और अखंडता' की भावना को चोट पहुंचा सकता था। हालांकि इसमें संदेह नहीं कि हमारा संविधान सरकार का जो स्वरूप पेश करता है वो फेडरेशन ही है-यद्यपि वह समकालीन तुलनात्मक राजनीति में अशद है। भारत जैसे बहु-सांस्कृतिक, बहु-नस्लीय और बहु-भाषीय स्वरूप वाले देश में सिर्फ संघवाद की भावना ही इस देश की अंदरुनी विविधता में सामंजस्य ला सकती थी। सिर्फ आपसी सहयोग और सामंजस्य की भावना ही परस्पर विरोधी समूहों (क्षेत्रीय, धार्मिक, भाषाई और नस्लीय) की उग्रता को थामने का काम कर सकती है। लेकिन आजादी के बाद की विविधता में बाहुल्य ने हमारे सामने एक ऊबड़-खाबर जमीन की तस्वीर भी पेश की है।

विवाद और विरोधाभास

हम एक ऐसे देश में 'सहयोगात्मक संघवाद' के बारे में चर्चा कर रहे हैं जहां केंद्र और राज्य के बीच में कभी भी एक केंद्र के गठन को लेकर कोई समझौता नहीं हुआ। यहां के राज्य उस समझौते के हिस्सा नहीं हैं, बल्कि वे संविधान की पैदाइश हैं जिसे एक ऐसी सभा ने निर्मित किया था जो केंद्रीकृत राजनीति के पक्ष में थी। जहां तक प्रान्तों और केंद्र के अधिकार का संबंध है तो ऐसी किसी भी समता की कल्पना या निर्माण नहीं किया गया है। यहां तक राज्य सभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व समान नहीं है। केंद्र के इस 'संघीय' हिस्से को (यानी राज्य सभा) यहां तक कि उनके (प्रांतों के) नाम, क्षेत्र, सीमा या इलाका तक तय करने का अधिकार नहीं है। समवर्ती सूची के कानूनों की जहां तक बात है तो टकराव की स्थिति में केंद्र का कानून मान्य माना जाएगा-ऐसी व्यवस्था है। धारा 249 के मुताबिक केंद्र सरकार को अगर आवश्यक लगा तो राष्ट्रीय हित में वह राज्य सूची के कानून में भी हस्तक्षेप कर सकती है और विधायिका की अवशिष्ट शक्तियां केंद्र सरकार में निहित हैं (धारा 248)। इस तरह से देखा जाए तो इस तरह के बहुत सारे केंद्र-वादी प्रावधान भारत के सहयोगात्मक संघवाद की आत्मा पर कब्जा किए हुए हैं।

सन् 1980 के दशक तक संसदीय केंद्रवाद कांग्रेस के नेतृत्व में एक दलीय वर्चस्व वाली व्यवस्था के तहत काम कर रहा था। इसके कुछ अपबाद सन् 1975-77 में केंद्र की जनता सरकार और सन् साठ के दशक में राज्यों की सरकारें थीं जिसने संघवादी विशेषताओं को बेहतर किया। कैबिनेट में प्रधानमंत्री का वर्चस्व होता था और संसद, राजनीतिक शक्तियों के उच्चस्तरीय केंद्रीकरण का प्रतीक थी। लेकिन सन् 1989 का चुनाव राजनीतिक तंत्र में व्यापक संघवाद लाने की दिशा में मील का पत्थर साबित हुआ। इस बड़ी घटना का एक महत्वपूर्ण कारण ये था कि एक दलीय वर्चस्ववाली व्यवस्था से देश बहुदलीय व्यवस्था और प्रमुख क्षेत्रीय दलों के उदय की तरफ बढ़ रहा था। कहा जा सकता है कि दलगत व्यवस्था वो महत्वपूर्ण हस्तक्षेप-कारी कारक है जिससे द्वारा भारतीय समाज की बहुलतावादी और संघीय विविधता ने राजनीतिक तंत्र के क्रियाकलापों में संघवाद के मौजूदा चरण को सामने लाया है। इसके परिणामस्वरूप दो दशकों से भी ज्यादा तक (सन् 1989-2014) केंद्र में गठबंधन अल्प- बहुमत वाली सरकारों की परंपरा ही बन गई।

संविधान की धारा 282 के तहत केंद्र राज्यों को योजना अनुदान उतना ही देता है जितना राज्य ने अपने संसाधनों से योजना तैयार की है। इसका मतलब है कि धारा 282 के तहत संसाधनों, जमीन और विकास परक शुरुआतों के मद्देनजर पहले से ही देश का असमान भौगोलिक बंटवारा और भी असमान होता जाएगा।

केंद्र और राज्यों के बीच राजस्व का बंटवारा हमेशा से महत्वपूर्ण और विवादास्पद रहा है। केंद्र के करीब साठ फीसदी संसाधनों को राज्यों को स्थानानंतरित करने में योजना आयोग की भूमिका ने वित्तीय मुद्दों का उचित ही राजनीतिकरण किया है और ऐसा करके उसने योजना आयोग की भूमिका को भी कमजोर किया। अगर हम केंद्र और राज्यों के बीच करों के सकल वितरण को देखें -जैसा कि संविधान द्वारा प्रावधान किया गया है - तो हमें इन बातों में साफ असंतुलन दिखता है-1 (केंद्र और राज्यों के बीच में कराधान की शक्तियों का बंटवारा और 2) योजनाओं को लागू करने में राज्यों को दी गई जिम्मेवारियां। मिसाल के तौर पर संविधान की धारा 282 के तहत केंद्र राज्यों को योजना अनुदान उतना ही देता है जितना राज्य ने अपने संसाधनों से योजना तैयार की है। इसका मतलब है कि धारा 282 के तहत संसाधनों, जमीन और विकास परक शुरुआतों के मद्देनजर पहले से ही देश का असमान भौगोलिक बंटवारा और भी असमान होता जाएगा। वर्तमान सरकार ने योजना आयोग को खत्म कर उसकी जगह नेशनल इंस्ट्टियूट फॉर ट्रांसफॉर्मिंग इंडिया (नीति आयोग) का गठन किया है। नीति आयोग की प्रशासकीय परिषद में सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और केंद्र शासित प्रदेशों के उप-राज्यपाल शामिल हैं।

अब सवाल ये है कि क्षेत्रीय असामनता की निरंतरता, विपक्षी दलों के कुछ राज्यों में सत्तासीन होने की संभावना, वैश्वीकरण के दवाब में ज्यादा वित्तीय विकेंद्रीकरण की आशंका और नीति आयोग की नीति निर्धारक भूमिका की संभाव्यता के मद्देनजर क्या केंद्र सरकार के लिए इस बात की इजाजत देना संभव होगा कि वो न सिर्फ राज्यों को इच्छित वित्तीय स्वायत्तता दे बल्कि सरकार के तीसरे स्तर (यानी स्थानीय संस्थाओं) को भी स्वायत्तता दे?

क्या नवगठित नीति आयोग को मौजूदा केंद्रीकृत योजना ढांचे के विपरीत जरूरी और लंबे समय से इच्छित प्रभावी विकेंद्रित अंतर-सरकारी मशीनरी उपलब्ध करवाई जाएगी जिसको ये पर्याप्त शक्ति हो कि वह सहयोगात्मक संघवाद पर लंबे समय से चले आ रहे जुबानी और दुहराव वाले विवादों का निपटारा कर सके?

अनिच्छुक रूप से बनाया गया अनियमित संघ पहले से ही प्रशासन को चलाने में एक बाधा है। संविधान की धारा 370 जम्मू और

कश्मीर को एक विशेष दर्जा देती है- जिसमें उसका अपना संविधान, उसके मुख्यमंत्री को प्रधानमंत्री के पद के समतुल्य एक ओहदा और कामकाज की विशेष तरह की जिम्मेवारी दी गई। संविधान में धारा 370 इस शीर्षक के साथ वर्णित है- 'जम्मू-कश्मीर राज्य के संदर्भ में अस्थायी उपबंध' और महत्वपूर्ण बात ये है कि ये *अस्थायी उपबंध* आजतक चले आ रहे हैं।

संविधान की धारा 371 ए और 371 जी के तहत नगालैंड और मिजोरम के आदिवासियों के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं। लेकिन फिर भी इन इलाकों के अधिकांश भागों में अन्याय और धोखे की भावना है। केंद्र से अलग होकर अपना अलग अस्तित्व हासिल करने के अधिकार को एक तरफा छीन लिए जाने से उपजी असंतुष्टि उनके अलगाव की भावना में प्रदर्शित होती है। दूसरी तरफ सबसिडी, बुनियादी सुविधाओं के निर्माण और दूसरी वित्तीय सहायताओं के प्रति केंद्र सरकार की संवेदनहीन प्रतिक्रिया इस खाई को और बढ़ा देती है। एक केंद्रीकृत और कठोर नौकरशाही की मशीनरी पर अक्सर ये आरोप लगाया जाता है कि वह उत्तर-पूर्व के राज्यों के प्रति सौतेला व्यवहार कर रही है।

संविधान का अनुच्छेद छह जो असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के बारे में वह एक अन्य तरह के अनियमित संघवाद का चित्र पेश करता है जिसमें स्वायत्त जिलों में स्वशासन के परिषदों का प्रावधान है। इन राज्यों में जो जनजाति है और वे राज्य खुद भी इन त्रिकोणीय संघर्ष में उलझे हुए हैं:

- जनजातीय इलाकों में प्रशासन चलाने के लिए सीमित प्रशासनिक शक्ति, अपर्याप्त वित्तीय व्यवस्था और राज्यपाल का सर्वव्यापी हस्तक्षेप
- सुरक्षा के नाम पर केंद्रीकृत राजनीतिक हस्तक्षेप और
- चीनी, बंग्लादेश, भूटान और म्यांमार के साथ लगती सीमा के पास इन राज्यों की रणनीतिक भौगोलिक स्थिति।

हालांकि इन राज्यों के लिए इस तरह के विशेष प्रावधान निसंदेह एक ज्यादा जिम्मेवार संघीय लोकतंत्र के लिए सकारात्मक कदम है लेकिन इसकी निम्नलिखित चुनौतियां भी हैं-

- उत्तर-पूर्व के लोगों को उनके चुने गए प्रतिनिधियों की भागीदारी बढ़ाकर मुख्यधारा की राजनीति में लाना और योजनाकृत विकास गतिविधियों के लिए उत्तर-पूर्व को खोलना।
- जिस तरह से प्रांत और जिलों का संबंध बनाया गया है उस एकात्मकता को परिवर्तित करना।
- भारतीय संघवाद की इस अनियमित रूपरेखा के अलावा हम एक बहु-स्तरीय संघवाद का भी लक्षण भारत में देख रहे हैं। केंद्र और राज्य के अलावा शासन का एक तीसरा स्तर यानी पंचायत और नगर निकाय भी कार्यरत हैं। इस तीसरे स्तर में 592 जिला पंचायत, 6321 प्रखंड पंचायत और 2,53,189 ग्राम पंचायतें आती हैं जिसको अगर एक साथ देखें तो उसमें हर पांच साल पर 30 लाख से ज्यादा जनप्रतिनिधियों का चुनाव होता है। संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के द्वारा केंद्र ने दलित और महिलाओं के लिए इन स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं में भी अवसर मुहैया करवाया है।

प्रशासन के इस तीसरे स्तर को संविधानिक मान्यता तो मिल गई है लेकिन उनकी जिम्मेवारियों और उनके संसाधनों के बारे में अभी भी बहस चल ही रही है। संघीय व्यवस्था में उनकी स्थिति अभी भी अस्पष्ट है। उन्हें अभी भी केंद्र या राज्य के एक क्रियान्वयन एजेंसी के तौर पर ही देखा जा रहा है। अपने लिए वित्त और कर्मचारियों की व्यवस्था करना उनके लिए अभी भी कठिन काम बना हुआ है। यानी वित्तीय अस्पष्टता किसी भी तरह की व्यावहारिक विकेंद्रीकरण की राह में बाधा बन जाती है, राजनीतिक-चुनावी हस्तक्षेप अक्सर होता है, देश की संभ्रांत नौकरशाही अभी भी इस तीसरे स्तर के प्रशासन को उसी पुरानी कृपा-दर्शाती मानसिकता से देखती है और स्थानीय रूप से प्रभावी समाजिक संभ्रांत वर्ग का पूर्वाग्रह भी इसकी राह में एक प्रमुख बाधा है।

गठबंधन सरकारों के गणितीय समीकरणों ने सत्ता का संतुलन राज्य-स्तरीय या क्षेत्रीय पार्टियों के पक्ष में कर दिया। भले ही ऐसा करके उसने संघवाद की छवि को मजबूत किया, लेकिन साथ ही प्रधानमंत्री की सत्ता को भी उनके गठबंधन सहयोगियों के सामने न्यूनतम स्तर पर ला खड़ा किया।

भारतीय संघ में राज्यों की बढ़ती संख्या के साथ शासन का तीसरा स्तर भी अपनी उपस्थिति जरूर मजबूत करेगा। लेकिन उसके सामने चुनौतियां हैं कि शासन के तीसरे स्तर को मान्यता और उसका उचित सम्मान ही वह सरकार का अग्रिम स्तर है और उसे इस संघीय ढांचे में एक स्वायत्तता मिले, न कि उसे सिर्फ राज्य सरकारों को दी गई जिम्मेवारियों को पूर्ति करने की एक इकाई समझा जाए और ये तय करना कि क्या तीसरे स्तर की कल्पना महज प्रशासन को आसान करने के लिए की गई थी या स्थानीय स्तर पर लोगों को सशक्त करने और लोकतंत्र को विकेंद्रित करने के लिए भी।

अगर पंचायत और स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को वास्तव में स्वशासन के लिए काम करने इजाजत दी जाए तो फिर उनको कुछ खास-खास सक्षमता वाले क्षेत्र, कार्य और संबंधित संसाधन दिए जा सकते हैं।

केंद्र में सन् 1989 से 2014 तक का गठबंधन सरकारों का दौर संघीय इकाइयों में सत्ता की साझेदारी और भारत की वर्चस्वशाली संसदीय व्यवस्था के संघीकरण की दृष्टिकोण से अहम था। गठबंधन की सरकारे अंतर-सरकारी संबंधों को सुधारने का एक बेहतर रास्ता मुहैया करवाती हैं जो प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों, प्रधानमंत्री और राज्यपालों, कैबिनेट मंत्रियों और राज्यों के मंत्रियों और नीति-निर्माण और क्रियान्वयन स्तर पर नौकरशाही के बीच औपचारिक और अनौपचारिक वार्ताओं के रूप में प्रकट होता है। लेकिन गठबंधन सरकारों के गणितीय समीकरणों ने सत्ता का संतुलन राज्य-स्तरीय या क्षेत्रीय पार्टियों के पक्ष में कर दिया। भले ही ऐसा करके उसने संघवाद की छवि को मजबूत किया, लेकिन साथ ही प्रधानमंत्री की सत्ता को भी उनके गठबंधन सहयोगियों के सामने न्यूनतम स्तर पर ला खड़ा किया। यह कई बार देखा गया है कि गठबंधन सरकार के सहयोगी उनको आबंटित मंत्रालयों को लगभग जागीर की तरह व्यवहार करते हैं और अपने दलों के हित में उसे एक संरक्षण की तरह इस्तेमाल करते हैं। केबिनिट की एकत्वता और इसकी सामूहिकता और संसद या स्पष्ट रूप से कहें कि लोकसभा के प्रति उसके उत्तरदायित्व की परीक्षा ली जाती है और संविधानिक रूप से मान्य सीमाओं से बाहर गैर-संसदीय शक्ति केंद्रों तक उसका इस्तेमाल कर लिया जाता है। लेकिन सन् 2014 के आम चुनाव ने एक बार फिर से केंद्र में एक दलीय सरकार की राह को प्रशस्त कर केंद्र में गठबंधन सरकारों की अनवरत यात्रा को परिवर्तित कर दिया है।

(शेषांश पृष्ठ 58 पर)

संघ व राज्यों के आर्थिक संबंधों की पुनर्व्याख्या

अनुज कुमार अग्रवाल

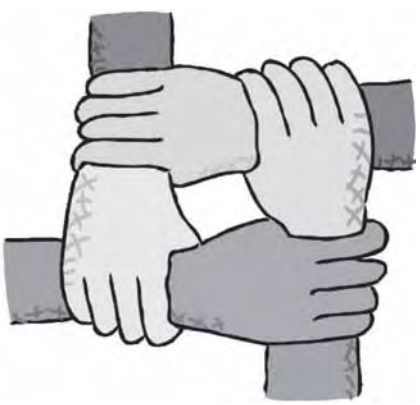

निश्चित रूप से भारत अनेक राज्यों को मिलाकर बनने वाला संघ नहीं है वरन् प्रशासनिक सुविधा व सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता के संतुलन को बैठाते हुए विकेंद्रीकृत शासन व विकास के लिए किये जाने वाला उपक्रम है। केंद्र-राज्यों के संबंधों को भारत के संविधान की इसी भावना के अंतर्गत-देखा जाना चाहिए न कि सैद्धान्तिक/आदर्श संघवाद के मापदण्डों पर

देश में राजनीतिक सत्ता बदलने के साथ ही प्रशासनिक स्तर पर जो बड़े परिवर्तन हो रहे हैं उनमें 'केंद्र राज्य' संबंध प्रमुख हैं। प्रधानमंत्री केंद्र व राज्यों को परस्पर प्रतिस्पर्धी के स्थान पर मित्र के रूप में परिभाषित व स्थापित करने के पक्षधर हैं। इसी कारण वह योजना आयोग की राज्यों पर चाबुक चलाने की पद्धति को समाप्त कर उसे एक सलाहकारी व विशेषज्ञ संस्था 'नीति आयोग' के रूप में पुनर्गठित करना चाह रहे हैं। वह प्रधानमंत्री व मुख्यमंत्रियों की एक ऐसी परिषद का गठन करना चाहते हैं जो केंद्रीय मंत्रिमंडल की तरह राज्यों के मुद्दों व अधिकारों को सहकारिता, समन्वय व संवाद के माध्यम से सुलझा सके।

प्रधानमंत्री के शब्दों में

"मैं भलीभांति जानता हूं कि देश की ताकत राज्यों में निहित है। जो राज्यों की ताकत समझता है, वो ही देश को ताकतवर समझ सकता है। भारत को अब आगे बढ़ना है तो राज्यों को आगे बढ़ाना आवश्यक है। भारत एक पिलर से ऊंचाई प्राप्त नहीं कर सकता। हर मजबूत राज्य के मजबूत पिलर ही देश को ऊंचाई पर ले जा सकते हैं। केंद्र सरकार का दायित्व बनता है कि सभी राज्यों को प्रोत्साहित करे। जहां जरूरत पड़े वहां पूरी शक्ति से उनके साथ जुड़े रहे और तब जाकर हम विकास की नई ऊंचाई को प्राप्त कर सकेंगे। मैं देश के विकास के लिए टीम इंडिया की बात करता हूं। प्रधानमंत्री और सभी मुख्यमंत्री एक ऐसी टीम हैं जो कंधे से कंधा मिलाकर चलें तो नई ऊंचाइयों को प्राप्त किया जा सकता है। केंद्र, राज्य सहयोग में कितनी ताकत है, इसका मैं अंदाजा लगा सकता हूं। राज्यों को केंद्र का सहयोग न मिले तो क्या तकलीफ होती है वह भी मैं अच्छे से जानता हूं।"

सामान्यत: पिछले 67 वर्षों में अक्सर राज्य केंद्र पर सौतेला व्यवहार करने का आरोप लगाते रहे हैं। विशेषकर अगर राज्य विशेष में केंद्र से भिन्न राजनीतिक दल की सरकार हो। केंद्र में सत्तारूढ़ दल द्वारा विपक्ष शासित राज्यों के लिए योजनाएं, फंड, अनुदान व अन्य मुद्दों पर लेटलतीफी व लापरवाही के आरोप लगते रहे हैं। राज्यों के मध्य भी संसाधनों के बंटवारे व आपूर्ति के संबंध में झगड़े आम बात है। विशेषकर अगर दोनों राज्यों में अलग-अलग दलों की सरकार हों। बकौल प्रधानमंत्री आज की तारीख में देश की प्राथमिकताएं बदल चुकी हैं। प्रत्येक राज्य में कृषि के क्षेत्र का विकास, सिंचाई सुविधाओं का विस्तार (बिजली की अनवरत उपलब्धता) सड़कों का जाल, दूरसंचार साधनों, रेडियो/टीवी/इंटरनेट की उपलब्धता, शिक्षा, स्वास्थ्य व न्यायक्षेत्र को विकेंद्रित नेटवर्क के साथ रोजगार उपलबध कराने वाले उपायों को लागू करना है। ये सभी कार्य केंद्र और राज्यों के आपसी समन्वय के बिना संभव नहीं हैं, यह समन्वय उद्योग, सेवा व कृषि सभी क्षेत्रों में युवाओं के लिए रोजगारों के नये अवसर प्रदान करेगा।

भारत के संघवाद की सीमाएं

देश में संघवाद की परिकल्पना भाषाई, धार्मिक, जातीय व क्षेत्रीय विविधताओं को संज्ञान में रखते हुए की गयी थी। एक साझी

लेखक कैरियर प्लस के निदेशक और राजनीतिक पत्रिका डॉयलॉग इंडिया के संपादक हैं। सामाजिक, समसामयिक विषयों पर एडवोकेसी का कार्य मौलिक भारत ट्रस्ट के जरिए कर रहे हैं। ईमेल: dialogueindia.in@gmail.com

भारतीय संस्कृति के बीच प्राचीनकाल से ही भारतीय अपनी स्थानीय व निजी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जीवन संचालन में स्वायत्त ही रहे हैं। किंतु जब-जब कुशल शासकों ने प्रयास किये तब-तब पूरा दक्षिण एशिया उपमहाद्वीप राजनीतिक व प्रशासनिक रूप से एक सूत्र में भी बंधा है। आजादी के बाद जब रियासतों का विलय हो गया और नया संविधान कार्यरूप में आया तब भारतीय समाज की इस मूल प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर 'अर्द्धसंघवाद' व 'सहकारी संघवाद' की आधारशिला रखते हुए भारत में केंद्र-राज्यों के ढांचे व राजनीतिक-प्रशासनिक कार्यप्रणाली विकसित की गयी जिसमें निश्चित रूप से केंद्र को बड़ी प्रभावी एवं निर्णयकारी भूमिका दी गयी। भारत अनेक राज्यों को मिलाकर बनने वाला संघ नहीं है वरन् प्रशासनिक सुविधा व सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता के संतुलन को बैठाते हुए विकेंद्रीकृत शासन व विकास के लिए किये जाने वाला उपक्रम है। इसी कारण इसे अर्धसंघ (Quasi-Fedral) भी कहा जाता है। केंद्र-राज्यों के संबंधों को भारत के संविधान की इसी भावना के अंतर्गत-देखा जाना चाहिए न कि सैद्धान्तिक/आदर्श संघवाद के मापदण्डों पर।

भारत का संघीय ढांचा केंद्र सरकार को इतना शक्तिशाली बनाता है कि केंद्रीय संसद न केवल इन राज्यों के क्षेत्रफल को बदल सकती है वरन् इनके अस्तित्व तक को मिटा सकती है। केंद्र राज्यों में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी सैन्य व अर्द्ध-सैन्य बालों की तैनाती कर सकता है (अनुच्छेद 258)। राज्यों की विधान सभाएं/विधानमंडल व कार्यपालिका अपनी शक्ति का प्रयोग इस प्रकार कर सकते हैं कि वह केंद्रीय संसद की विधि के अनुरूप हो तथा केंद्र की कार्यपालिका शक्ति का उल्लंघन करने वालों या उससे पूर्वाग्रहपूर्ण न हो।

यदि राज्य, केंद्र के निर्देशों का पालन नही करता, तो केंद्र संविधान के अनुच्छेद 356 का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति शासन लगा सकता है तथा राज्य का प्रशासन अपने हाथ में ले सकता है। अनुच्छेद 352 के तहत राष्ट्रीय आपातकाल लागू होने पर केंद्र राज्यों को किसी भी विषय पर निर्देश दे सकता है। राज्यों के प्रशासनिक व पुलिस सेवा के प्रमुखों का चयन भी केंद्र की अखिल भारत सेवा के माध्यम से होता है और राज्य सरकार इन सेवाओं के लोगों को निलंबित तो कर सकती है किन्तु कोई अनुशासनात्मक-कार्यवाही नहीं कर सकती (अनुच्छेद 312)। अंतर्राज्यीय नदियों के जल या नदी-घाटियों से संबद्ध विवादों में केंद्र, निर्णयकारी प्राधिकार रखता है। इसी शक्ति के तहत संसद द्वारा गठित त्रिस्तरीय नदी, जल अधिकरणों के निर्णय जो केंद्र सरकार के राजपत्र में प्रकाशित होते हैं वे राज्यों पर बाध्यकारी होते हैं (अनुच्छेद 269)।

केंद्र, केंद्रीय सूची व समवर्ती सूची पर विधायन के माध्यम से राज्यों पर विधायी नियंत्रण रखता है। अनुच्छेद 31क, ख व ग के तहत राज्य विधेयकों को राष्ट्रपति की अनुमति अनिवार्य है। अनुच्छेद 200 घ के तहत राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक को राज्यपाल, राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है। (उच्च न्यायालय की शक्तियों संबंधी विषय में यह अनिवार्य है।)

अनुच्छेद 288 घ, 304 घ, 256, 257 भी राज्य सरकारों की शक्तियों पर केंद्र के नियंत्रण को स्पष्ट करते हैं। राज्यों की करारोपण की दृष्टि से बहुत सीमित शक्तियां हैं और वे वित्तीय क्षेत्रों के लिए केंद्र पर अत्याधिक निर्भर है। यही कारण हैं कि राज्यों को 'महिमामंडित नगरपालिकाएं' भी कहा जाता हैं। राज्यों के वित्त का प्रमुख क्षेत्र केंद्र से प्राप्त सहायता अनुदान है। इस प्रकार केंद्र का राज्यों के वित्त पर व्यापक नियंत्रण होता है।

नीति आयोग का दर्शन

'नीति आयोग' एवं 'वस्तु एवं सेवा कर' दो ऐसे कदम हैं जो आने वाले समय में देश की राजनीति, प्रशासन व केंद्र-राज्यों के संबंधों पर एक नया अध्याय लिखने वाले हैं। प्रधानमंत्री ने योजना-आयोग को समाप्त कर जहां नेहरूयुगीन आर्थिक नीतियों को अलविदा कहा वहीं जनवरी 2015 से 'नीति आयोग' नेशनल इंस्टीट्यूशन ऑफ ट्रॉन्सफॉर्मिंग इंडिया (National Institute of Transfroming India) बनाकर एक नयी देसी वैचारिक क्रांति की नींव रखी है जो विकास को पूंजीवाद, साम्यवाद व उदारवाद के वैश्विक प्रतीकों से निकाल कर पूर्णत: राष्ट्रवादी व भारतीय दर्शन के अनुरूप विश्लेषित व क्रियान्वित करने की ओर अग्रसर होगा।

इसके तहत भारत का विकास मॉडल जिन छ: भारतीय विभूतियों के दर्शन पर आधारित होगा वे हैं - महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानन्द, भीमराव अंबडेकर, पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, तमिल कवि तिरूवल्लूर, असमिया संत शंकरदेव।

नीति आयोग का महत्वपूर्ण दर्शन गांधीजी का यह सूत्र है - "सतत विकास जीवन का नियम है और जो व्यक्ति हमेशा हठधार्मिता को बनाये रखने की कोशिश करता है, स्वयं को भटकाव की ओर ले जाता है। इसी प्रकार डॉ. भीमराव अंबेडकर के सूत्र 'अधिकारों को केंद्रीकृत करना अविवेकपूर्ण है' से सरकार की नियत स्पष्ट हो गयी है। वहीं तमिल संत तिरूवल्लूवर के कथन "गरीबी से अधिक भयानक और दुखदायी कुछ भी नहीं है और गरीबी का दंश व्यक्ति की श्रेष्ठता में से उसकी उत्कृष्ट कुलीनता छीन लेता है" से आयोग की प्राथमिकता को स्पष्ट किया गया है।

कवि शंकरदेव के ग्रंथ कीर्तनघोष का कथन "प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के बराबर देखना मोक्ष प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन है" से प्रथम बार सरकार की योजनाओं की अंतिम लक्ष्यप्राप्ति को स्पष्टता से उकेरा है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में दीनदयाल उपाध्याय के 'अंत्योदय दर्शन' जो अति गरीबों को भी विकास का फल मुहैया कराने के लिए उनके उत्थान पर जोर देता है को नीति आयोग की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में शामिल किया है।

नीति आयोग के प्रमुख आधार बिन्दु

- पूर्णत: भारतीय दर्शन पर आधारित
- गांव-गरीब के साथ ही युवाओं, नवमध्यम वर्ग, अनिवासी भारतीयों और शहरीकरण पर आधारित, शहरीकरण अवसर माना गया।
- केंद्र और राज्यों दोनों के नीति निर्माण में समान रूप से इस दर्शन का प्रसार।
- दुनियाभर से सभी सकारात्मक चीजें ग्रहण करेगा क्योंकि बाहर से स्वीकार किया गया कोई एक मॉडल भारतीय परिदृश्य में फिट नहीं बैठ सकता।
- सरकार की भूमिका जनता के सहयोगी (एनेबलर) के रूप में होगी।
- अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र को महत्व।
- वैश्विक गांव की संकल्पना को साकार करने व इसके लिए सूचना प्रौद्योगिकी और विभिन्न तरह की कनेक्टिविटी पर जोर।
- नवमध्यम और मध्यम वर्ग पर अधिक फोकस।
- पेशेवर प्रबंधन एवं प्रौद्योगिकी दृष्टि से अनिवासी भारतीयों की भूमिका बढ़ाने पर जोर।

- कारपोरेट संस्कृति के अनुरूप कामकाज के लिए सचिव के स्थान पर मुख्य कार्यकारी अधिकारी की नियुक्ति।

केंद्र-राज्य संबंध वित्तीय आईने में

भारत में केंद्र और राज्यों के संबंध में वित्त आयोग एवं योजना आयोग (अब नीति आयोग) की महत्वपूर्ण भूमिका रही है जब-जब राज्यों में केंद्र से अलग दल की सरकारें होती हैं तब-तब केंद्र और उस राज्यों के मध्य तनातनी होने लगती है। अक्सर राज्य ऐसे में केंद्र पर सौतेला व्यवहार करने का आरोप लगाते हैं। ऐसे में जबकि वित्तीय मामलों पर राज्यों की केंद्र पर निर्भरता बहुत अधिक है। इन आरोपों में कुछ हद तक सच्चाई भी होती है। केंद्र सरकारें विपक्ष शासित राज्यों पर अपने राज्यपालों को थोप देती हैं जो अक्सर केंद्र के इशारों पर राज्य सरकारों को परेशान करते हैं।

सामान्यत: देश में पंचवर्षीय योजनाओं के अनुरूप विकास कार्य व योजनाओं का क्रियान्वयन किया जाता रहा है। किंतु व्यवहार में पांच वर्षों का कार्यकाल इतना लंबा होता है कि योजनाएं अपने उद्देश्य, लक्ष्यों व परिणामों से भटक जाती हैं। योजना आयोग की समाप्ति के बाद पूरी उम्मीद है कि अब दीर्घकालीन नीतियों का निर्धारण कर वार्षिक लक्ष्यों पर जोर देते हुए उसका सामंजस्य दीर्घकालीन नीतियों से बैठाया जायेगा। ऐसे उपायों से न केवल योजनाओं के क्रियान्वयन के व्यवहारिक लक्ष्य प्राप्त होंगे वहीं अपव्ययों व दिशाहीनता की स्थिति से भी निपटा जा सकेगा। अभी तक योजना आयोग विकास कार्यक्रमों के लिए साधनों के केंद्र आवंटन की सिफारिश करता रहा है और वित्त आयोग केंद्र व राज्यों के बीच वित्तीय साधनों के बंटवारे की सिफारिश करता रहा है। राज्य सरकारें रिजर्व बैंक से ओवर ड्राफ्ट भी लेती रहती हैं। करों के बंटवारे, अनुदान, ऊंची दरों पर ब्याज के साथ ऋण, घाटे की अर्थव्यवस्था आदि मुद्दों पर वर्तमान सरकार नये सिरे से काम कर रही है। 'वस्तु एवं सेवा कर' अप्रैल 2016 से लागू किये जाने के विधेयक पर केंद्र व राज्यों में सहमति के साथ ही अब यह निश्चित होता जा रहा है कि देश कर सुधारों की दिशा में एक क्रांति के मोड़ पर है।

संविधान में निम्नलिखित पांच प्रकार के करों का प्रावधान है। (अनुच्छेद 269, 270)

- संघ द्वारा लागू किये जाने वाले किंतु राज्यों द्वारा संग्रहीत और विनियोजित किये जाने वाले कर (यथा स्टॉप शुल्क, औषधीय और प्रसाधन निर्मितियों पर उत्पाद शुल्क)
- संघ द्वारा लागू एवं संग्रहण कर राज्यों को सौपें जाने वाले कर (यथा संपत्ति के उत्तराधिकार पर कर)
- रेल किराये और मालभाड़े पर कर, रेल, समुद्र और वायु मार्ग द्वारा ले जाने वाले माल या यात्रियों पर सीमा कर।
- संघ द्वारा लगाये और संग्रहित किंतु संघ एवं राज्यों के बीच वितरित किये जाने वाले कर (यथा आयकर, केंद्रीय बिक्रीकर)
- संघ द्वारा लगाये जाने वाला संग्रह किये जाने तथा केंद्र और राज्यों के मध्य वितरित किये जाने वाले कर (यथा सीमाशुल्क, आयकर पर अधिभार)

संविधान में करारोपण की विधायी शक्तियां व करों के आगमों की प्राप्ति भी वित्तीय शक्ति में अंतर दिखाया गया है किंतु यह भेद पूर्णत: पृथक नहीं है तथा करों के संबंध में अवशिष्ट शक्तियां भी केंद्र के ही पास हैं।

जीएसटी: कर सुधारों की उम्मीद

संघ व राज्यों के मध्य वित्तीय संबंधों के बारे में अधिकांश प्रावधान 'भारत सरकार अधिनियम, 1935' से लिए गये हैं। जीएसटी एवं जीएसी परिषद आजादी के बाद 'वस्तु एवं सेवाकर' (जीएसटी) टैक्स सुधार का सबसे क्रांतिकारी कदम है जो केंद्र एवं राज्यों के बीच एक नई सहकारी भागीदारी का आधार बन सकता है। मगर इसे सफलतापूर्वक लागू किया गया तो न केवल राज्यों द्वारा लगाई गई विविधतापूर्ण अप्रत्यक्ष कर प्रणाली को पूरी तरह से खंडित कर आधुनिक एवं सरल बनायेगा बल्कि केंद्र एवं राज्यों के बीच राजनीतिक/वित्तीय सहयोग के एक नये युग का संकेत भी हो सकता है। जीएसटी पर सहमति बनने में लंबा समय लगने का मुख्य कारण राज्यों का वह डर था कि सांविधानिक रूप से स्थानीय कर वसूलने की जो वित्तीय स्वायत्तता उन्हें मिली हैं वह कहीं खत्म न हो जाये। यह दूर करने के लिए वर्तमान वित्त मंत्री ने राज्यों की आशंकाओं को समाप्त करते हुए ऐसा स्पष्ट किया कि 'केंद्र ने एक ऐसा वैधानिक ढांचा तैयार किया है कि केंद्र एवं राज्यों के बीच एक जीएसटी लागू करने से राज्यों को होने वाली संभावित राजस्व हानि के लिए उन्हें पर्याप्त मुआवजा मिल सके। नये कानून में राज्यों के लिए यह सुविधा होगी कि वे एक सीमा के भीतर-जीएसटी में बदलाव कर सकते हैं तथा सभी महत्वपूर्ण फैसले केंद्र एवं राज्यों के प्रतिनिधियों को मिलाकर तैयार नवनियुक्त जीएसटी परिषद द्वारा लिये जायेंगे।' ऐसे में जीएसटी परिषद ऐसे मंच के रूप में कार्य करेगी जहां सभी राज्य समान भागीदार के रूप में नय कर ढांचे में जरूरी भावी बदलाव पर विचार विमर्श करेंगे।

जीएसटी लागू होने पर सबसे बड़ा फायदा यह होगा कि एक ही झटके में यह 'काली अर्थव्यवस्था' के एक बड़े हिस्से को आधिकाधिक टैक्स के दायरे में ले आयेगा और बहुत ही कम समय में देश का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) 20 खरब डॉलर से बढ़कर 30 खरब डॉलर हो जायेगा।

यद्यपि अभी भी प्रस्तावित कर मसौदे में प्रमुख अप्रत्यक्ष करों को ही शामिल किया गया है लेकिन राज्य स्तरीय चार प्रमुख करों को इससे अलग रखा गया है वे हैं प्रेट्रोलियम उत्पादों पर कर, विद्युत शुल्क, आबकारी शुल्क एवं अचल संपत्ति पर स्टांप शुल्क। ये कर कुल मिलाकर राज्यों की कुल कर आय का पचास प्रतिशत से भी अधिक है जिसका जीएसटी के दायरे में न आना चिंता की बात है। इससे वहां दोहरे कराधान की संभावनाएं बनी रहेंगी। वहीं कालेधन के निर्माण पर अंकुश नहीं लग पायेगा। यद्यपि क्रमिक रूप से पेट्रोलियम पदार्थ को इसके दायरे में लाने का प्रावधान जीएसटी परिषद के दो तिहाई सदस्यों की सहमति से किये जाने की बात कही गयी है। किंतु ऐसा अन्य करों के लिए भी किया जा सकता था।

जीएसटी परिषद में केंद्र सरकार की वोट हिस्सेदारी एक तिहाई एवं राज्यों की दो तिहाई होगी। यह परिषद तमाम मुद्दों यथा दर (दर की सीमा भी), छूट, मॉडल जीएसटी कानून, लेवी का सिद्धांत, आईजीएसटी का विभाजन) आपूर्ति की जगह को शामिल करने वाले सिद्धांत आदि पर भी सुझाव देगी। यद्यपि पूर्व में प्रस्तावित 'राष्ट्रीय जीएसटी विवाद निपटान प्राधिकरण' का प्रावधान न होना मॉडल जीएसटी की राह में बाधा के रूप में देखा जा सकता है। किंतु एक बड़े कदम के उठ जाने के बाद छोटी-मोटी बाधाएं भी समय के साथ दूर हो जायेंगी। ❑

संघीय व्यवस्था में नीति निर्देशक तत्वों की जवाबदेही

गीता चतुर्वेदी

भारत में नीति निर्देशक तत्वों के पूरी तरह लागू ना हो पाने की बड़ी वजह देश के पास संसाधनों की कमी है लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 125 करोड़ की अपनी जनसंख्या का बड़ा हिस्सा अब भी आर्थिक और सामाजिक आजादी की बाट जोह रहा है। अगर नीति निर्देशक तत्वों को सही तरीके से लागू नहीं किया गया तो भावी समस्याओं पर काबू पाना आसान नहीं होगा

संविधान के भाग तीन और चार को इसकी आत्मा के तौर पर व्यापक मान्यता हासिल है। संविधान बनाते वक्त और उस पर बहस के दौरान संविधानसभा के जानकारों ने बार-बार इस तथ्य को स्वीकार किया। भाग तीन में जहां मूल अधिकारों का जिक्र है वहीं भाग चार के अनुच्छेद 36 से लेकर 51 तक राज्य के नीति निर्देशक तत्व का जिक्र किया है। संविधान की आत्मा के इन दोनों पहलुओं में एक विरोधाभास है। भाग तीन यानी मूल अधिकारों को न्यायिक संरक्षण मिला हुआ है। दूसरे शब्दों में कहें तो अगर किसी नागरिक के मूल अधिकार में राज्य घुसपैठ करे या फिर उसमें कटौती करे तो सर्वोच्च न्यायालय उसे संरक्षण दे सकता है। राज्य की घुसपैठ या कटौती को अवैध बताते हुए निरस्त कर सकता है लेकिन नीति निर्देशक तत्वों के बारे में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। अनुच्छेद 36 से लेकर 51 तक में राज्य के जिन नीति निर्देशक तत्वों का जिक्र है, मूलत: राज्य के लिए निर्धारित कर्तव्य हैं। जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, दैनिक जीवन की जरूरतों आदि का जिक्र है।

नीति निर्देशक तत्वों के बारे में कहा जाता है कि वे राज्य पर नैतिक बंधन की तरह काम तो करते ही हैं। तब यह भी माना गया कि लोकतांत्रिक समाज के अहम तत्व मतदाताओं के हाथ ये अधिकार अहम हथियार साबित होंगे। संविधान द्वारा प्रदत्त नीति निर्देशक तत्वों को लेकर अपने रहनुमाओं से सवाल भी पूछ सकेंगे। बेशक इन तत्वों को आयरलैंड के संविधान से उठाया गया लेकिन तब भी यह सवाल चिंता थी कि इन तत्वों की जवाबदेही नहीं तय की गई तो भावी राजनीति और कार्यपालिका को चलाने वाले तत्व इसे गंभीरतापूर्वक लागू नहीं करेंगे। भारतीय संविधान निर्माण की पृष्ठभूमि में चूंकि समाजवादी, बुद्धिवादी और गांधीवादी दृष्टि रही है- जिसका जिक्र अनुच्छेद 38 में किया भी गया है- लिहाजा यह माना गया कि आने वाली सरकारें जनता के प्रति इन नैतिक कर्तव्यों का निर्वाह पूरी ईमानदारी से करेंगीं। नीति निर्देशक तत्वों को जवाबदेह बनाने को लेकर अब भी सीधे सवाल भले न उठ रहे हों, लेकिन आजादी के 68 साल बाद ये जरूर पूछा जाने लगा है कि जिन राजनीतिक दलों और शख्सियतों के हाथ में कार्यपालिका का कामकाज रहा, उन्होंने संविधानप्रदत्त इस नैतिक अधिकार का कितना इस्तेमाल किया।

यह सवाल पहली बार 2003 के विधानसभा चुनावों में भी प्रकारांतर से उठा था, जब मध्य प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान और छत्तीसगढ़ में चुनाव हुए थे। उन चुनावों में दिल्ली छोड़कर इन्हीं सवालों पर सत्ता परिवर्तन हुआ था। फिर भी पूरे दावे से नहीं कहा जा सकता कि इन चुनावों के बाद भी कार्यपालिका पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया के तहत ही काबिज होने वाले राजनीतिक दलों ने इन नैतिक अधिकारों का सही तरीके से इस्तेमाल किया है। अगर संविधान में लिखित समाजवादी, गांधीवादी और बुद्धिवादी अवधारणा पर ही काम किया गया होता तो इस देश में अब भी 83 करोड़ लोग बीस रुपये या उससे भी कम पर रोजाना जिंदगी गुजारने के लिए मजबूर नहीं होते। यूरोप और चीन की तरह भारत के गांव और शहर स्वच्छ होते, यहां की सदा नीरा नदियां मल और अवशिष्ट से लदने

लेखिका सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर लगातार लेखन करती हैं। राजनीति शास्त्र के अध्ययन व विमर्श के साथ भारतीय संविधान में इनकी गहरी दिलचस्पी है। ईमेल: geetac77@gmail.com

राजनीति चमकाने में खूब हुआ उपयोग

1935 में गवर्नर जनरल ने राज्यों के गवर्नरों को जनता के हितों के लिए जो औजार दिए थे, दरअसल उनकी जवाबदेही जनता की सहूलियतें बढ़ाने और उनका जीवन स्तर उठाने के लिए काम करने को लेकर थीं। आजाद भारत के संविधान में इन औजारों को नीति निर्देशक तत्वों के तौर पर शामिल करते वक्त भी उसी भावना का विस्तार किया गया। यह जिम्मेदारी सरकारों और उन्हें चलाने वाले राजनीतिक तंत्र को दी गई। प्रथम आम चुनाव से लेकर 1962 तक के आम चुनाव तो नेहरूवादी सपने को राजनीतिक वैधता देने के जनतांत्रिक उपाय ही साबित हुए। तब स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान सन्निहित विचारों का बोलबाला था। इसलिए नेहरू पर सवाल नहीं उठे, सिवाय डॉक्टर लोहिया और उनके कुछ समाजवादी सहयोगियों के किसी ने नेहरूवादी विकास मॉडल पर सवाल नहीं उठाया। हालांकि नेहरू भी अपनी नई विकास की जो कहानी भारत के लिए रच रहे थे, उसके पीछे भी नीति निर्देशक तत्वों से हासिल नैतिक सत्ता ही थी।

सही मायने में देखा जाय तो कांग्रेस विभाजन के बाद 1971 में हुए चुनावों में पहली बार नीति निर्देशक तत्वों को तब प्रमुखता मिली, जब इंदिरा गांधी ने गरीबी हटाओ का नारा दिया। इसी नारे के सहारे उन्होंने भारी जीत हासिल की। यह बात और है कि अब तक देश में गरीब बने हुए हैं।

1977 के आम चुनावों में बेशक कांग्रेस के आपातकाल की कारगुजारियों का प्रतिकार व्यक्त हुआ लेकिन तब भी जनता का स्तर ऊंचा उठाना, महंगाई पर काबू पाना और आम लोगों के रहन-सहन को बेहतर बनाने का वादा जनता पार्टी ने किया था। चुनाव बाद आई मोरारजी देसाई सरकार ने तत्काल दाम बांधने की कोशिश की। तब किरासन तेल 1.50 रुपये प्रति लीटर और चीनी 2.40 रुपये प्रति किलोग्राम बिकने लगी थी।

1980 और 1984 के आम चुनावों में नीति निर्देशक तत्वों ने खास भूमिका नहीं निभाई लेकिन 1989 के बाद से लगातार हर चुनाव में राज्य नीति निर्देशक तत्वों ने बड़ी भूमिका निभाई। इसका सबसे बड़ा असर दिखा 2003 के विधानसभा चुनावों में। तब मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान और दिल्ली में बिजली, सड़क और पानी ने बड़ी भूमिका निभाई। विकास के नारे पर लड़े गए इन चुनावों में दिल्ली छोड़कर भारतीय जनता पार्टी को भारी कामयाबी मिली। तब बिजली, सड़क और पानी को संक्षेप में भारतीय जनता पार्टी के बड़े नेता और तत्कालीन केंद्रीय मंत्री प्रमोद महाजन ने बीएसपी कहा था। उनका कहना था कि बीएसपी ने बड़ी भूमिका निभाई। आपकी जानकारी के लिए बता दें कि बिजली, पानी और सड़क मुहैय्या कराना राज्य और केंद्र दोनों की जिम्मेदारी है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि ये तीनों ही विषय समवर्ती सूची के अंग हैं।

2003 के बाद 2005 के बिहार विधानसभा चुनावों में भी नीति निर्देशक तत्वों ने बड़ी भूमिका निभाई। नीतीश कुमार की अगुआई में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन ने लालू सरकार के खिलाफ कानून व्यवस्था के साथ विकास को बड़ा मुद्दा बनाया और बिहार के लोगों ने इसे हाथोंहाथ लिया। हाल में हुए लोकसभा चुनाव और झारखंड विधानसभा चुनाव में अहम मुद्दा विकास ही रहा और इन्हीं मुद्दों पर ही मतदान केंद्रित रहा। कहना न होगा कि दोनों चुनावों में जनता ने भारतीय जनता पार्टी के विकास के वायदे पर भरोसा किया।

की बजाय अपने पारंपरिक रूप में स्वच्छ और जीवनदायिनी रही होतीं। यहां यह बता देना जरूरी है कि 2005 में योजना आयोग द्वारा गठित अर्जुन सेन गुप्ता कमेटी ने रिपोर्ट दी थी कि भारत में अब भी 20 रुपये या इससे भी कम पर गुजारा करने के लिए इतनी बड़ी आबादी मजबूर है।

आयरलैंड के संविधान के अध्याय 45 में नीति निर्देशक तत्वों का जिक्र है। वहीं से भारतीय संविधान निर्माताओं ने अपने यहां भी स्वीकार किया है। इन तत्वों को आजादी से पहले इन्हें निर्देशों का औजार भी कहा गया था। 1935 में जब भारत शासन अधिनियम ब्रिटिश संसद ने पारित किया तो उसमें भी इन तत्वों का जिक्र था और राज्य को यह निर्देश दिया गया था कि कानून बनाने वक्त जनता के हित में इन औजारों का जरूर ध्यान रखेंगे। भारत शासन अधिनियम में गवर्नर जनरल द्वारा जन सामान्य के हित में इन तत्वों को ध्यान में रखते हुए शासन चलाने के निर्देश दूसरे औपनिवेशिक गवर्नरों को दिए गए थे। इसलिए इन्हें गवर्नरों का औजार भी कहते हैं। नीति निर्देशक तत्वों का जिक्र करते वक्त भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की परंपरा का भी ध्यान रखा गया था। यों तो स्वतंत्र भारत के नागरिकों को बराबरी, शोषण से मुक्ति और समान रूप से आगे बढ़ने को लेकर अधिकार देने की चेतना का विकास आजादी के आंदोलन के दौरान ही हुआ था। इसके पीछे 1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों में व्याप्त असमानता भी आधार बनी थी। इसे ध्यान में रखते हुए 1925 में एनी बेसेंट ने सात सूत्री राष्ट्रमंडल विधेयक का प्रारूप पेश किया था। इसके बाद 1928 में कांग्रेस ने मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में 11 सदस्यीय कमेटी बनाई थी जिसने भारतीयों को मूल अधिकार की गारंटी देने वाली सिफारिशें की थीं। ये सिफारिशें अमेरिका के अधिकार कानून और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोपीय देशों ने अपने नागरिकों को जो अधिकार दिए थे, पर आधारित थीं।

बिजली, सड़क और पानी को संक्षेप में भारतीय जनता पार्टी के बड़े नेता और तत्कालीन केंद्रीय मंत्री प्रमोद महाजन ने बीएसपी कहा था। उनका कहना था कि बीएसपी ने बड़ी भूमिका निभाई। आपकी जानकारी के लिए बता दें कि बिजली, पानी और सड़क मुहैय्या कराना राज्य और केंद्र दोनों की जिम्मेदारी है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि ये तीनों की विषय समवर्ती सूची के अंग हैं।

कांग्रेस के 1931 कराची अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने एक मसविदा पेश किया था। इस दौर में समाजवादी मूल्यों को अखिल भारतीय मान्यता मिल रही थी। जवाहरलाल नेहरू पर इन मूल्यों का असर कहीं ज्यादा था। कराची अधिवेशन में पेश उनके मसविदे में इनका जिक्र था। कुछ संविधान के जानकार मानते हैं कि संविधान में इन मूल्यों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। यानी भारतीय

संविधान में वर्णित नीति निर्देशक तत्व भले ही आयरलैंड के संविधान के भाग 45 से लिए गए हों, लेकिन उन पर अमेरिकी अधिकार कानून, यूरोपीय देशों द्वारा अपने नागरिकों को दिए गए अधिकार और समाजवादी मूल्यों पर आधारित हैं। फिर उसके पास भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की पवित्र पूंजी और परंपरा भी रही। फिर भी भारत में अब भी गरीबी और असमानता क्यों नहीं खत्म हो पाई।

संविधान सभा में जब नीति निर्देशक तत्वों को लेकर बहस हुई थी, तब मुंबई के सदस्य प्रोफेसर के टी शाह ने इन्हें जवाबदेह बनाने और उनके खिलाफ न्यायिक समीक्षा का अधिकार दिए जाने की वकालत की थी। इस बहस के दौरान प्रसिद्ध वामपंथी विचारक हीरेन मुखर्जी संविधानसभा की बैठक की अध्यक्षता कर रहे थे। प्रोफेसर के टी शाह ने इसे जवाबदेह बनाने को लेकर एक प्रस्ताव भी रखा था। जिसका एम अनंतशयनम अयंगार ने इसका विरोध किया था। इस बहस में हिस्सा लेते हुए संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉक्टर बी आर अंबेडकर ने कहा था – 'हम सिर्फ एक ऐसी प्रक्रिया नहीं बनाना चाहते, जिसके जरिए योग्य लोग आगे आएं और अपने अधिकारों पर कब्जा कर लें। संविधान उन लोगों के समक्ष एक आदर्श व्यवस्था पेश करना चाहता है, जो सरकार बनाने की इच्छा रखते हैं। वह आर्थिक आजादी का आदर्श होगा।' यह बात और है कि प्रोफेसर के टी शाह अंबेडकर के इस तर्क से सहमत नहीं हुए लेकिन अंबेडकर नीति निर्देशक तत्वों को औजार मानते रहे।

निश्चित तौर पर सुप्रीम कोर्ट ने भी यह व्यवस्था दी है कि नीति निर्देशक तत्वों को जवाबदेह नहीं बनाया जा सकता। वर्ष 1967 में आए गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य के केस में 11 जजों की पीठ ने नीति निर्देशक तत्वों को भी मूल अधिकार की तरह लागू करने का फैसला दिया था। यह बात और है कि इसके बाद संविधान के अनुच्छेद 13 और 368 में संशोधन करके इस फैसले को पलट दिया गया।

निश्चित तौर पर सुप्रीम कोर्ट ने भी यह व्यवस्था दी है कि नीति निर्देशक तत्वों को जवाबदेह नहीं बनाया जा सकता। वर्ष 1967 में आए गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य के केस में 11 जजों की पीठ ने नीति निर्देशक तत्वों को भी मूल अधिकार की तरह लागू करने का फैसला दिया था। यह बात और है कि इसके बाद संविधान के अनुच्छेद 13 और 368 में संशोधन करके इस फैसले को पलट दिया गया। इस पर भी विवाद हुआ तो बाद में आए केशवानंद भारती केस में सुप्रीम कोर्ट ने ही संसद की सर्वोच्चता को मान्यता दे दी लेकिन साथ में यह भी जोड़ दिया कि वह संविधान के मूल ढांचे से छेड़छाड़ नहीं कर सकती लेकिन सवाल बड़ा यह है कि आखिर वह मूल ढांचा है क्या... इस पर बहस अब भी जारी है।

कुछ वर्ष पहले सुप्रीम कोर्ट ने एक फैसला दिया था। वह फैसला था कि संविधान की नौंवी अनुसूची की न्यायिक समीक्षा की जा सकती है। दरअसल राज्यों और संघ में जब विवाद होता था और कई बार राज्य यानी केंद्रीय शासन को किसी मुद्दे को टालना होता था तो उसे संविधान की नौंवी अनुसूची में डाल देता था। चूंकि यह संवैधानिक व्यवस्था थी कि संविधान की नौंवी अनुसूची में शामिल किए गए विषय की न्यायिक समीक्षा नहीं हो सकती है, लिहाजा इस नियम के जरिए मुद्दों को हल करने की बजाय टालने की प्रक्रिया तेज हो गई थी लेकिन सर्वोच्च न्यायालय की संविधानपीठ ने फैसला देकर इस परिपाटी पर विराम ही लगा दिया। तो सवाल यह है कि क्या नीति निर्देशक तत्वों को लेकर भी कभी ऐसा फैसला आएगा। हाल ही में दवाओं की आसमान छूती कीमतों पर लगाम लगाने को लेकर सर्वोच्च अदालत में एक जनहित याचिका दायर की गई थी। जिस पर दिसंबर 2014 में बड़ी अदालत ने यह फैसला दिया कि इस पर लगाम लगाने का अधिकार न्यायपालिका को नहीं है। दरअसल नागरिक को सहूलियतें देना नीति निर्देशक तत्व का ही अंग है। इसलिए न्यायपालिका इसमें दखल नहीं दे सकती।

तथ्य यह भी है कि अगर नीति निर्देशक तत्वों के आधार पर विधायिका कोई कानून बनाती है तो निश्चित तौर पर उसकी जवाबदेही बन जाती है और उसकी न्यायिक समीक्षा हो सकती है। शिक्षा का अधिकार को नीति निर्देशक तत्व की बजाय अब मूल अधिकार में शामिल कर दिया गया है। वर्ष 2011 में हुए इस बदलाव के बाद अब इसे लेकर न्यायिक समीक्षा की जा सकती है। इस तरह भोजन की गारंटी का अधिकार देने की बात चल रही है। अगर इसे लागू कर दिया जाता है तो यह भी न्यायिक समीक्षा और जवाबदेही के दायरे में आ जाएगा। महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार कार्यक्रम का कानून बनने के बाद भी ऐसा ही है।

वैसे जानकारों के सामने एक सवाल यह भी है कि अगर नीति निर्देशक तत्वों को जवाबदेह बनाया जाय तो उसे कौन लागू कराएगा। इसके लिए 2002 में नेशनल कमीशन ऑन द वर्किंग ऑफ कांस्टीट्यूशन ने सुझाव दिया था कि नीति निर्देशक तत्वों को लागू किया जाना चाहिए और इसे कानूनी जामा की बजाय यह काम एक एजेंसी के जरिए होना चाहिए। आखिर आज नक्सलवाद की समस्या या फिर देश भर में जो ढेर सारे आंदोलन हो रहे हैं, उनके पीछे कहीं न कहीं नीति निर्देशक तत्वों को पूरे मन से ना लागू किया जाना भी एक बड़ा कारण है। एनसीडब्ल्यूसी ने भी माना था कि अगर नीति निर्देशक तत्वों को कानूनी तौर पर लागू करने की बाध्यता हो तो निश्चित तौर पर यह विधायिका के कानून बनाने और कार्यपालिका के काम करने के अधिकारों में दखलंदाजी होगी लेकिन उसने भी माना कि इन्हें लागू करने के लिए एक बेहतर कार्यप्रणाली जरूर होनी चाहिए। बेशक कुछ जानकारों का तर्क है कि भारत में नीति निर्देशक तत्वों के पूरी तरह लागू ना हो पाने की बड़ी वजह देश के पास संसाधनों की कमी है लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 125 करोड़ की अपनी जनसंख्या का बड़ा हिस्सा अब भी आर्थिक और सामाजिक आजादी की बाट जोह रहा है। अगर नीति निर्देशक तत्वों को सही तरीके से लागू नहीं किया गया तो भावी समस्याओं पर काबू पाना आसान नहीं होगा। ❑

अगर नीति निर्देशक तत्वों के आधार पर विधायिका कोई कानून बनाती है तो निश्चित तौर पर उसकी जवाबदेही बन जाती है और उसकी न्यायिक समीक्षा हो सकती है। शिक्षा का अधिकार को नीति निर्देशक तत्व की बजाय अब मूल अधिकार में शामिल कर दिया गया है।

हिन्दी माध्यम का सर्वश्रेष्ठ संस्थान

निर्माण IAS

सफलता का पर्याय कमल देव (K.D.)

सामान्य अध्ययन

CSAT | इतिहास | भूगोल

पुनः अपनी गुणवत्ता व विश्वसनीयता को सिद्ध करते हुए -
IAS 2014 के मुख्य परीक्षा के अधिकांश प्रश्न हमारे नोट्स से

प्रथम प्रश्न-पत्र

आधुनिक भारत व विश्व इतिहास	K.D. Sir
आजादी के बाद का भारत	Praveen Jha Sir
भूगोल	Sanjeev Srivastava Sir
समाज व सामाजिक न्याय	Nitin Taneja Sir
कला एवं संस्कृति	Dr. A. K. Chaturvedi

द्वितीय प्रश्न-पत्र

राजव्यवस्था	Dr. M. Kumar Sir
अंतर्राष्ट्रीय संबंध एवं गवर्नेंस	V.K. Tripathi Sir (Reunion)
I.R. संबंधित समसामयिकी मुद्दे	K.D. Sir

तृतीय प्रश्न-पत्र

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का पाठ्यक्रम	Sanjeev Verma Sir (इलाहाबाद व ग्वालियर- Satish Sir)
विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी	K.D. Sir
पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी	Sanjeev Srivastav Sir
सुरक्षा	Jeetu Sir (Jyoti IAS) Senior IPS

चतुर्थ प्रश्न-पत्र

नीतिशास्त्र (Ethics)	Dr. Khurshid Sir (नीतिशास्त्र के सर्वाधिक अनुभवी व विख्यात प्रशिक्षक)
नैतिक विचारक	V.K. Tripathi Sir & K.D.Sir

फरवरी के प्रथम सप्ताह से P.T. (विशेष) कक्षाएं प्रारंभ

HEAD OFFICE : 12, Mall Road, Hudson Lane, Kingsway Camp, Delhi-9 • **CLASS ROOM** : 624, IInd Floor, Mukherjee Nagar, Delhi-9
GWALIOR : 2/3, Aziz Complex, New Khera Pati Colony, Phool Bagh, Gwalior (M.P.), **Ph. : 09753002277**
ALLAHABAD : IIIrd Floor, Vinayak Complex, Behind Big Bazar, Civil Line, Allahabad, U.P., **Ph. : 09984474888**

Ph. : 011-47058219, 9990765484, 7580856503, 9911581653

www.nirmanias.com • nirmanias07@gmail.com

YH - 323/2014

संघीय व्यवस्था पर क्षेत्रीय राजनीति का प्रभाव

सुशांत झा

भारत जैसे बहुभाषी, बहुनस्लीय और बहुधार्मिक संस्कृति के साथ भौगोलिक विविधता वाले देश में क्षेत्रीयता का होना स्वाभाविक है और इसका इस देश से बिल्कुल खत्म हो जाना संभव नहीं है। हां, जिस तरह से देश में आर्थिक एकीकरण और संचार माध्यमों के विस्तार की वजह से भौगोलिक दूरियां सिमट रही हैं, उससे यही कहा जा सकता है कि हम एक प्रतिस्पर्धी क्षेत्रीयता की दिशा में बढ़ रहे हैं, जहां राज्य और क्षेत्र एक दूसरे से स्वस्थ आर्थिक प्रतिस्पर्धा में लगे रहेंगे और कभी कभार नोंक-झोंक भी करते रहेंगे

तेलुगु देशम पार्टी के संस्थापक और आंध्रप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री एनटी रामाराव का एक मशहूर बयान बार-बार उद्धृत किया जाता है। रामाराव ने केंद्र को एक 'कंस्पेचुअल मिथ' यानी अवधारणात्मक मिथक कहा था।(1) उनका यह बयान दरअसल, उन बहुत सारी बातों को अपने आप में समेटता है जो संघीय व्यवस्था में क्षेत्रीय राजनीति के प्रभाव से संबंधित हैं। यह संयोग ही है कि रामाराव जिस प्रांत से आते थे वहीं के एक अनशनकारी पी. श्रीरामुलू के आन्दोलन ने तत्कालीन नेहरू सरकार को सन् 1953 में न्यायमूर्ति फजल अली के नेतृत्व में राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन करने को मजबूर किया था और भाषाई आधार पर राज्यों का गठन किया गया था। आजादी के बाद भारतीय संघ का गठन उन भौगोलिक, सामाजिक और राजनीतिक विविधताओं को अपने में सहेजने का प्रयास था जो इस देश को विदेशी विद्वानों की नजर में एक अस्वभाविक राष्ट्र बनाती थीं। उन विद्वानों को लगता था कि भारत एक आधुनिक राष्ट्र के तौर पर इतना 'अस्वभाविक है कि इसका ज्यादा दिनों तक वजूद बना नहीं रह पाएगा'।(2) आजादी की लड़ाई के दरम्यान और उसके बाद भी हमारे राष्ट्रनेता इस बात से भलीभांति वाकिफ थे कि भारतीय राष्ट्र का स्वरूप संघात्मक भले ही हो, लेकिन इसकी क्षेत्रीय आकांक्षाओं को भलीभांति पल्लवित होने का अवसर मिलना चाहिए। यही वो वजह थी जिसने यहां पर शासन की एकात्मक राष्ट्रपति प्रणाली को न अपनाकर संसदीय प्रणाली अपनाने को प्रेरित किया लेकिन साथ ही वे उस ऐतिहासिक भय से भी निर्देशित हो रहे थे जिसने केंद्र के कमजोर होने की सूरत में राष्ट्र के बिखरने की बात उनके मन में स्थापित कर रखी थी। संविधान सभा में अपने भाषण में डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि इतिहास गवाह है कि जब-जब केंद्र की सत्ता कमजोर हुई है तब-तब देश बिखर गया है। ऐसे में एक मजबूत केंद्र का होना जरूरी है। अम्बेडकर और देश का तत्कालीन नेतृत्व इस बात से खासतौर पर चिंतित था कि कुछ ही साल पहले एक रक्तरंजित संघर्ष और दंगों के बाद धर्म के नाम पर देश का बंटवारा हो गया था। अम्बेडकर ने अतीत की दासता का जिक्र करते हुए ये भी कहा कि हमारे देश को विदेशी आक्रांताओं से हार का सामना इसलिए करना पड़ा क्योंकि हमारे अंदर आपस में फूट थी और एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र की मदद के लिए सामने नहीं आया।(3) मजबूत केंद्र के समक्ष पर्याप्त रूप से स्वायत्त और सक्षम राज्यों की बात भी बराबर की जाती रही। राज्य हमेशा ये मांग करते रहे कि उनकी स्वायत्तता में दखलअंदाजी न की जाए, आर्थिक हिस्सेदारी में बढ़ोतरी की जाए और केंद्रीय योजनाओं की संख्या घटाई जाए। संविधान निर्माण के समय भी राज्यों के प्रतिनिधियों ने केंद्र की अत्यधिक शक्तियों का विरोध किया और कहा कि देश को एक 'संघीय नहीं बल्कि एकात्मक संविधान मिला है और लोकतंत्र की अवधारणा दिल्ली की सीमाओं तक सिमट गई है'।(4)

पहले भी और अब भी राज्यों ने विशेष राज्य का दर्जा मांगा, जैसा कि बिहार, ओडिशा या पश्चिम बंगाल मुखर रूप से मांग ही रहे हैं। हालांकि आजादी के छह दशक बाद अब ये मामला क्षेत्रीय अस्मिता का कम आर्थिक हिस्सेदारी का ज्यादा हो गया है और यह क्षेत्रीयता की ही एक अलग तरीके की अभिव्यक्ति है। भारतीय राष्ट्र-राज्य का स्वरूप

लेखक स्वतंत्र पत्रकार व राजनीतिक विश्लेषक हैं। संप्रति एक मीडिया कंसल्टेंसी में वरिष्ठ संपादकीय परामर्शी हैं। सोशल मीडिया पर सक्रिय चर्चित टिप्पणीकारों में शामिल हैं। भारतीय जनसंचार संस्थान नयी दिल्ली के छात्र रहे हैं। रामचंद्र गुहा की पुस्तकों 'इंडिया आफ्टर गांधी' तथा 'गांधी बिफोर इंडिया' के साथ ही अनेक पुस्तकों का अनुवाद कर चुके हैं। ईमेल: jhasushant@gmail.com

भले ही संघात्मक हो लेकिन विद्वानों ने व्यंग्य में इसे एकात्मक कहा ही है। जाहिर है, ऐसा आर्थिक संसाधनों पर केंद्र का लगभग एकाधिकार और प्रशासन में उसके विशेषाधिकारों की वजह से है। इसकी सबसे तल्ख अभिव्यक्ति उस समय हुई जब कुछ साल पहले तमिलनाडु की मुख्यमंत्री ने राज्यों की तुलना 'गौरवशाली नगरपालिकाओं' से कर दी और केंद्र पर गैर-जरूरी हस्तक्षेप के आरोप लगाए।(5)

वर्तमान में देखें तो, भले ही देश में कई दशकों के बाद कोई एक-दलीय बहुमत वाली सरकार बनी है, लेकिन उससे पीछे का करीब दो दशक गठबंधन सरकारों का दौर रहा है। उन दशकों में कोई भी सरकार क्षेत्रीय दलों के समर्थन के बिना नहीं बन पा रही थी। तमाम क्षेत्रीय दल अपने-अपने राज्यों के लिए ज्यादा संसाधनयुक्त मंत्रालय या फिर ज्यादा से ज्यादा वित्तीय मदद का दवाब डाल रहे थे। बहुत से राजनैतिक पंडितों ने इसे एक अपरिहार्य और लंबे समय तक चलने वाला क्रम मान लिया था, हालांकि क्षेत्रीय पार्टियों का उदय और उनका विकास कोई नई घटना नहीं थी। आजादी के बाद से ही क्षेत्रीय पार्टियां वजूद में आ गई थीं और अलग-अलग राज्यों में उन्होंने मजबूत राजनीतिक भूमिका और कहीं-कहीं सरकार बनाना भी शुरू कर दिया था। ऐसा स्वाभाविक भी था, क्योंकि एक वक्त था जब कांग्रेस पार्टी की मशीनरी ही इतना विशाल थी कि उसमें देश की विविध राजनीतिक, सामाजिक आकांक्षाएं जगह पा लेती थीं लेकिन आजादी के बाद के दशकों में ऐसा होना बंद हो गया।

जब क्षेत्रीय आकांक्षाएं खलबलाने लगीं तब कई आकांक्षाएं ऐसी भी थीं जिनका स्वरूप अलगाववादी था और जो एक अखंड और एकीकृत भारत की परिकल्पना को चुनौती दे रही थीं। ऐसी सबसे शुरुआती चुनौतियों में नगा आन्दोलन और कश्मीर का मुद्दा अहम था, साथ ही पंजाब में सिखों का एक समूह (जिसके नेता मास्टर तारा सिंह थे) और तमिलनाडु की डीएमके भी कुछ उन्हीं भावनाओं से ओतप्रोत थीं जो अत्यधिक स्वायत्तता और स्वतंत्रता के बीच के फर्क को लांघ जाना चाहती थीं। इन क्षेत्रीय और कई बार धार्मिक आकांक्षाओं ने ऐसा संकट पैदा किया कि सन् 1951 की जनगणना में पंजाब के हिंदुओं ने अपनी मातृभाषा के स्थान पर पंजाबी के बदले हिंदी लिखवा दिया! ऐसा काल्पनिक सिख वर्चस्व के भय से किया। यह संघवाद पर क्षेत्रीय और अस्मिता की राजनीति का अजीब असर था।(6) ऐसे में प्रश्न था इन क्षेत्रीय आकांक्षाओं को कैसे संतुष्ट किया जाए और राष्ट्र की मजबूती में कैसे इनका इस्तेमाल किया जाए? दूसरा सवाल ये था कि संघीय व्यवस्था को मजबूत बनाए रखते हुए क्षेत्रीय आकांक्षाओं को कैसे पूर्ण रूप से खिलने का अवसर दिया जाए? ये कुछ ऐसे प्रश्न थे जो जबर्दस्त संतुलन की मांग करते थे और एक उदार और दूरदर्शी नेतृत्व की अपेक्षा करते थे। सौभाग्य से अपने पड़ोसी देशों के विपरीत भारत में ऐसे नेतृत्व की कमी नहीं रही।

भारत में क्षेत्रीय राजनीति का संघीय व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता रहा है या भविष्य में इसकी क्या रूपरेखा होगी - इसको जानने के लिए थोड़ा क्षेत्रीय राजनीति के चरित्र को समझना जरूरी है। भारत में क्षेत्रीय राजनीति के विविध स्वरूप हैं और उनमें समरूपता नहीं है। पहला स्वरूप भाषाई उप-राष्ट्रीयतावादी अस्मिता का है जिसके आधार पर दरअसल पहले-पहले देश का आंतरिक (राज्यों का) पुनर्गठन किया गया। इसके पीछे मूल चिंता ये थी कि खास-खास इलाकों में वर्चस्वशाली भाषाओं वाले इलाके में अन्य-भाषाभाषियों ने आन्दोलन किया। इसकी शुरुआत आंध्रप्रदेश से हुई जहां श्रीरामुलु ने एक अलग तेलुगु राज्य के लिए अनशन करते हुए अपनी जान दे दी। उसके बाद देश में प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग का जन्म हुआ और देश में सोलह प्रांत बनाए गए।

नब्बे और बाद के दशक में तो क्षेत्रीय राजनीति इतनी मजबूत हो गई कि उसने कई बार देश की विदेश नीति तक पर प्रभाव डालने की कोशिश कर दी। बहुत दिन नहीं हुए जब यूपीए-2 के दरम्यान पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के साथ बंग्लादेश जाने को तैयार नहीं हुई क्योंकि तीस्ता-जल बंटवारे पर वह सहमत नहीं थीं।

दूसरा स्वरूप धार्मिक-नस्लीय अस्मिता का है जिसने कुछ धर्म और नस्ल के लोगों को इस बात के प्रति असुरक्षा से भर दिया कि एक विराट और एकीकृत देश में उनका धर्म और नस्ल मुख्यधारा में विलीन हो सकता है। कई बार इसकी सीमा अलगाववाद के स्तर तक भी गई लेकिन अधिकांशत: यह संविधान को मानने वाला ही रहा। इस तरह की क्षेत्रीयता पंजाब की अकाली दल, मिजो नेशनल फ्रंट, असम गण परिषद या जम्मू और कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस के रूप में व्यक्त होती रही।

तीसरा स्वरूप जो अपेक्षाकृत कम स्थायी भाव वाला रहा है, वो दमित आर्थिक-सामाजिक आकांक्षा से परिचालित है जिसमें पिछड़ों-वंचितों के लिए परिकल्पित कोई पार्टी स्थायी नहीं रह पाई और कई खंडों में बिखर कर वंशानुगत राजनीति के अधीन आ गई। ऐसे दलों ने भी अलग-तरह से अपने क्षेत्रों को व्यक्त किया और संघीय व्यवस्था को प्रभावित करते रहे। इन दलों में बिहार में राजद, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी, ओडिशा में बीजू जनता दल, तमिलनाडु में पीएमके और पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस प्रमुख हैं।

सन् 1952 से लेकर सन् 1989 तक जब तक केंद्र में एकदलीय सरकार रही, क्षेत्रीय राजनीति उस हिसाब से संघीय व्यवस्था को प्रभावित नहीं कर पाई जिस हिसाब से बाद के दशकों में देखने को मिला। हालांकि आजादी के बाद के दशक एक नवजात मुल्क के हिसाब से खतरनाक दशक माने जाते थे जब देश में खाद्यान्नों की कमी, भीषण गरीबी, शरणार्थियों की समस्या, पड़ोसियों से युद्ध और एक हिंसक उग्र वाम-आन्दोलन पैर पसारने की फिराक में था। ऐसा कांग्रेस के नेतृत्व में एकदलीय प्रणाली के मजबूत होने की वजह से था लेकिन नब्बे और बाद के दशक में तो क्षेत्रीय राजनीति इतनी मजबूत हो गई कि उसने कई बार देश की विदेश नीति तक पर प्रभाव डालने की कोशिश कर दी। बहुत दिन नहीं हुए जब यूपीए-2 के दरम्यान तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के साथ पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री बंग्लादेश जाने को तैयार नहीं हुईं क्योंकि तीस्ता-जल बंटवारे पर वह सहमत नहीं थीं।(7) कुछ ऐसा ही तब हुआ जब श्रीलंका में तमिल विद्रोहियों के खिलाफ जब वहां की सरकार कार्रवाई कर रही थी तो तमिलनाडु की राजनीतिक पार्टियों ने केंद्र पर जबर्दस्त दवाब बनाया। इस वजह से भारत और श्रीलंका के संबंधों में जो गर्माहट आनी चाहिए थी, उसमें कमी देखी गई। गठबंधन सरकारों के दौर में क्षेत्रीय पार्टियों के नेता अपनी मर्जी से मंत्री मनोनीत करने लगे और केंद्र सरकार के मुखिया के अधिकार को चुनौती दी गई और कैबिनेट सिस्टम की आमसहमति प्रभावित हुई।

हालांकि ऐसा नहीं था कि नब्बे के दशक से पहले क्षेत्रीय राजनीति का संघीय व्यवस्था पर बिल्कुल असर नहीं था। देखा जाए तो राज्यों का पुनर्गठन ही क्षेत्रीय राजनीति के

दबाव में हुआ था और तत्कालीन केंद्र सरकार उस पर भरसक टालमटोल कर रही थी। उस समय सरकार इस भय के साये में जी रही थी कि कुछ ही दिन पहले धर्म के नाम पर देश का बंटवारा हो गया था और वह भाषा के मामले पर राज्यों का पुनर्गठन कर बर्रे के छत्ते में हाथ नहीं डालना चाहती थी। तेलुगु आन्दोलनकारी श्रीरामुलू, जिनका जिक्र पहले किया जा चुका है, महात्मा गांधी के अनुयायी रहे थे और महात्मा खुद भाषाई आधार पर कांग्रेस कमेटियों के पुनर्गठन के समर्थक रहे थे।(8) ऐसा सन् 1917 के बाद से किया भी गया था जब कांग्रेस कमेटियों का गठन भाषाई आधार पर किया था। पार्टी ने भाषाई आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन के प्रति खुद को प्रतिबद्ध बताया था लेकिन आजादी के बाद भारत सरकार एक अज्ञात भय की वजह से उस पर टालमटोल कर रही थी, क्योंकि देश का बंटवारा भी हो गया था और उसका आधार धर्म था। सरकार, उस समय भाषा के आधार पर कोई भी जोखिम लेने से बच रही थी।

यह क्षेत्रीय राजनीति का ही दवाब था जिस वजह से हिंदी एकमात्र राजभाषा नहीं बन पाई और अंग्रेजी के बरक्श इसका दर्जा कमजोर ही बना रह गया। ऐसा कई बार हुआ, सन् 1950 में जब नेहरू सरकार के सामने विकट विरोध किया गया तो 15 वर्षों तक के लिए हिंदी को लागू करना रोक दिया गया लेकिन सन् 1965 में जब वही समस्या लाल बहादुर शास्त्री सरकार के सामने पेश आई तो एक कट्टर हिंदीवादी होने के बावजूद शास्त्री ने देश की परिस्थिति के हिसाब से जरूरी लचीलापन दिखाया और हिंदी को लागू करना राज्यों की इच्छा पर छोड़ दिया। उन नेताओं ने भाषाई सर्वोच्चता के सामने देश की एकता-अखंडता को ज्यादा महत्व दिया-जो बिल्कुल उपयुक्त था। सिर्फ भारत सरकार की भाषाई नीति का भी गहन अध्ययन कर लिया जाए तो संघीय व्यवस्था पर क्षेत्रीय राजनीति के प्रभाव के कई पेंच खुल सकते हैं।

दूसरी बात, संघीय व्यवस्था पर क्षेत्रीय राजनीति का प्रभाव संसाधनों के बंटवारों को लेकर भी था। नदी जल का बंटवारा, कुछ शहरों पर अधिकार (मसलन तत्कालीन बंबई, चंडीगढ़ या वर्तमान में हैदराबाद पर), उद्योग धंधों की स्थापना में वरीयता की मांग और क्षेत्रीयता के अधीन क्षेत्रीयता की मांग (मसलन बोडोलैंड, तेलंगाना आदि) अहम मांग थी। सन् नब्बे के दशक तक अखबारों की सुर्खियां कावेरी या रावी-व्यास जल विवाद की खबरों से अटी पड़ी रहती थीं। कई बार ऐसा होता था कि दो राज्यों में एक ही दल की सरकार होती थी लेकिन वे दोनों सरकारें संसाधनों के लिए आपस में लड़ती रहती थीं। पंजाब और हरियाणा या कर्नाटक और तमिलनाडु में कांग्रेस-नीत या गठबंधन वाली सरकारें भले रही हों लेकिन जब संसाधनों के बंटवारे की बात आती थी तो वे आक्रामक हो जाती थीं। सन् 2004 में तो पंजाब विधानसभा ने एक प्रस्ताव ही पारित कर दिया कि वो अन्य राज्यों के साथ जल-बंटवारे की संधि को खारिज कर रही है।(9) निश्चय ही यह संघीय भावनाओं का उल्लंघन था। जबकि केंद्र और राज्यों में कांग्रेस की सरकार ही थी।

क्षेत्रीय राजनीति के तहत कई बार दूसरे प्रदेश के लोगों का ये कहकर विरोध किया कि वे अन्य प्रदेशों के लोगों का रोजगार कुतर रहे हैं। ऐसा सन् साठ के दशक में बंगालियों (खासकर पूर्वी पाकिस्तान से आए लोगों) को लेकर असम में भी हुआ और सहस्राब्दी की शुरुआत में महाराष्ट्र में भी छिटपुट रूप से वैसा ही हुआ जहां उत्तर भारतीयों के विरोध की खबरें आईं। ऐसा ही साठ और सत्तर के दशक में दक्षिण भारतीयों का विरोध किया गया था जब शिवसेना ने मराठी अस्मिता की लड़ाई शुरू की थी।

यह क्षेत्रीय राजनीति का ही दवाब था जिस वजह से हिंदी एकमात्र राजभाषा नहीं बन पाई और अंग्रेजी के बरक्श इसका दर्जा कमजोर ही बना रह गया। ऐसा कई बार हुआ, सन् 1950 में जब नेहरू सरकार के सामने विकट विरोध किया गया तो 15 वर्षों के लिए हिंदी को लागू करना रोक दिया गया।

ऐसा नहीं है कि भारत में क्षेत्रीय राजनीति के उभार ने हमेशा देश या उन इलाकों का अहित ही किया हो। उसके कुछ सकारात्मक परिणाम भी सामने आए हैं। उदाहरण के लिए तमिलनाडु या मिजोरम को लिया जा सकता है जो एक जमाने में हिंदी-विरोध, उत्तर विरोध और ब्राह्मण विरोध की राजनीति की धुरी था। यहां एक ही साथ भाषा, नस्ल, जाति और केंद्र विरोधी (शुरुआती दौर में तो देशविरोधी भी) राजनीति उफान पर थी लेकिन तमिल उप-राष्ट्रीयतावाद ने वहां की राजनीति को जनोन्मुखी और लोककल्याणकारी बनाने की दिशा में भी अग्रसर किया। नतीजा यह हुआ कि तमिलनाडु सन् नब्बे के दशक में तमिलनाडु ऐसे राज्यों में शुमार हो गया जो सामाजिक मानकों-मसलन शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण-आदि पर काफी ऊंचा था। उसी तरह हिमाचल प्रदेश या मिजोरम जिसे क्रमशः पंजाब और असम से काटकर अलग बनाया गया था, वहां की सरकारों ने शिक्षा पर-खासकर बालिका शिक्षा पर-इतना जोर दिया कि वो प्रांत सन् नब्बे के दशक में दूसरों के लिए उदाहरण बन गए। हिमाचल में सन् 1961 में लड़कियों की साक्षरता दर महज 11 फीसदी थी, वो सन् 1998 तक 98 फीसदी पहुंच गई।(10) जब महाराष्ट्र में कुछ राजनीतिक दलों ने बिहार और यूपी के लोगों का विरोध किया तो इसने उन प्रदेशों की राजनीति पर कुछ आंतरिक प्रभाव जरूर डाला। हिंदी पट्टी से अलग जो प्रांत आज विकास की नई ऊंचाइयां छू रहे हैं, उसका एक आंशिक कारण उनमें क्षेत्रीयता से परिपूर्ण उपराष्ट्रीयतावाद की भावना का उदय होना भी था, जिसने वहां के नेताओं को ज्यादा जनोन्मुखी, प्रतिबद्ध और कल्याणकारी बनने को प्रेरित किया। इसको मोटे तौर पर उन राज्यों में साक्षरता दर, प्रतिव्यक्ति आय, लैंगिक अनुपात, सामाजिक सद्भाव और मृत्युदर और जन्मदर के रूप में देखा जा सकता है। छिटपुट उदाहरण के रूप में देखें तो उन राज्यों में दोपहर का भोजन, लड़कियों के लिए साइकिल, गरीबों के लिए आवास और सस्ते दर पर अनाज की योजनाएं पहले चलाई गईं, उसे बाद में दूसरे राज्यों ने लागू किया।

दरअसल, आजादी के तुरंत बाद क्षेत्रीयता एक वास्तविक खतरा जैसा था जो आजादी के छह दशक बाद अब वास्तविक नहीं बल्कि एक क्लासिकल (अवधारणात्मक) 'मुद्दा' भर रह गया है जो नियंत्रण योग्य और एक हद तक स्वागत योग्य भी है। अंग्रेजों के जमाने में जो शासन था उसमें देश के कुछेक शहरों को छोड़कर बाकी देश एक तरह से उपनिवेश के अधीन उपनिवेश था जिसमें कुछ भी विकास नहीं हुआ था। देशी रजवाड़ों की स्थिति बिल्कुल अलग थी, जिसमें कहीं-कहीं सौभाग्य से कुछ राजाओं ने कुछ स्कूल-कॉलेज खोल दिए थे। अंग्रेज जब देश छोड़कर जा रहे थे तो उस समय देश की महज 8 फीसदी आबादी शिक्षित थी, उतनी ही करीब शहरी थी और देश में भयानक आर्थिक-सामाजिक और क्षेत्रीय विषमता थी। ऐसे में भारत नाम के देश में क्षेत्रीयता के उभार और एकता को बनाए रखने की चुनौती 'वास्तविक' थी, जो बीते दशकों में धीरे-धीरे

काबू में आती गई है। केंद्रीय सरकार ने विविध आर्थिक, शैक्षणिक और बुनियादी ढांचे का वितरण कर देश में एक तरह की समता स्थापित करने की कोशिश की है। ऐसा ही सिनेमा, उद्योग, संचार के माध्यमों, क्रिकेट और अन्य कारकों ने भी किया है। अब क्षेत्रीयता का मुद्दा महज क्लासिकल इसलिए है क्योंकि अब उसकी मांग महज राजनैतिक-आर्थिक हिस्सेदारी से ज्यादा की नहीं है और इसमें देश के विखंडन का खतरा बिल्कुल नहीं है। कुल मिलाकर ये बिल्कुल कहा जा सकता है कि इस देश में एक ही साथ कोई व्यक्ति- तमिल या कन्नड़ के रूप में भी उसी शान और आराम के साथ रह सकता है जितना कि एक भारतीय के रूप में।(11)

जहां तक इसके भविष्य की बात है तो भारत जैसे बहुभाषी, बहुनस्लीय और बहुधार्मिक संस्कृति के साथ भौगोलिक विविधता वाले देश में क्षेत्रीयता का होना स्वाभाविक है और इसका इस देश से बिल्कुल खत्म हो जाना संभव नहीं है। हां, जिस तरह से देश में आर्थिक एकीकरण और संचार माध्यमों के विस्तार की वजह से भौगोलिक दूरियां सिमट रही हैं, उससे यही कहा जा सकता है कि हम एक प्रतिस्पर्धी क्षेत्रीयता की दिशा में बढ़ रहे हैं, जहां राज्य और क्षेत्र एक दूसरे से स्वस्थ आर्थिक प्रतिस्पर्धा में लगे रहेंगे और कभी कभार नोंक-झोंक भी करते रहेंगे। जैसा कि वित्तमंत्री अरुण जेटली ने उचित ही कहा कि अगर राज्य मजबूत हैं तो स्वभाविक रूप से केंद्र भी मजबूत होगा। हम एक ऐसे भारत की दिशा में बढ़ रहे हैं 'जहां सहयोगात्मक संघवाद के साथ-साथ प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद अपनी जगह बना चुका है'।(12) ❑

संदर्भः

1. संजय बारू, द एक्सिडेंटल प्राइम मिनिस्टर, अध्याय-9, पहला पैराग्राफ
2. विंस्टन चर्चिल, इंडिया स्पीचेज एंड इंट्रोडक्शन (लंदन, थॉर्नटन बटरवर्थ, 1931) पृ-31, 120, 125 आदि
3. अम्बेडकर के भाषण का संक्षेपन, http://www.outlookindia.com/article/The-Grammar-Of-Anarchy/289235
4. लोकनाथ मिश्र और के हनुमतैया का हस्तेक्षेप, सीएडी (कंस्टिचुएंट एसेंबली डिबेटसट), खंड-11, पृ-799, 617
5. http://www.thehindu.com/news/national/centre-reducing-states-to-glorified-municipal-corporations-jayalalithaa/article2562391.ece, 23 अक्टूबर 2011
6. रामचंद्र गुहा, इंडिया आफ्टर गांधी, अध्याय-9, पृ-185
7. http://indiatoday.intoday.in/story/teesta-water-sharing-talks-put-off-mamata-banerjee-manmohan/1/150681.html
8. कम्पाइल्ड वर्क ऑफ महात्मा गांधी, खंड-89, पृ-312-13
9. रामास्वामी आर अय्यर, पंजाब वाटर इम्ब्रोग्लियो, इकनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 31 जुलाई 2004
10. द प्रोब टीम, पब्लिक रिपोर्ट ऑन बेसिक एजुकेशन इन इंडिया (नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999), अध्याय-9
11. रामचंद्र गुहा, इंडिया आफ्टर गांधी, अध्याय-9, पृ-200
12. अरुण जेटली, 8 जनवरी 2015, http://www.financialexpress.com/article/economy/economics-breaks-political-ice-mamata-banerjee-arun-jaitley-talk-of-cooperation/27360/

(पृष्ठ 47 का शेषांश)

अतीत के भारतीय अनुभव ने बताया है कि केंद्र के द्वारा एक केंद्रीकृत प्रवृत्ति ने हमेशा संघीय ढांचे को आभाहीन करने का काम किया है। एक तरह वर्तमान सरकार का ये वादा और प्रतिवद्धता दर्शाना कि वो सहयोगात्मक संघवाद को बढ़ावा देगी और दूसरी तरफ एक बहुमत वाली सरकार का नेतृत्व कर रहे वर्तमान प्रधानमंत्री का सशक्त व्यक्तित्व-राजनीतिक पर्यवेक्षकों को इसके प्रति चिंतित और शंकालु कर देता है।

दूसरी तरफ केंद्र और राज्य सरकारों को प्रभावित करने की कोशिश कर रही वैश्वीकरण की शक्तियों को संतुलित करने की चुनौती भी खासी बड़ी है। इसलिए केंद्र और राज्य दोनों ही स्तरों पर सुधार की आवश्यकता है ताकि वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ बहु-स्तरीय संवाद संभव हो सके। सुधार-पूर्व के युग (सन् 1991 से पूर्व) का केंद्र और राज्यों का लंबवत प्रतिस्पर्धा अब राज्यों की क्षैतिज प्रतिस्पर्धा में बदल गई है जिसमें राज्यों में निवेश और संसाधन हासिल करने की होड़ लगी है। ये संसाधन और निवेश वे कहीं से भी-भले ही वो अंतर्राष्ट्रीय पूंजी हो या केंद्रीय मदद के रूप में - हासिल करना चाहते हैं और यह पहले से ही मौजूद क्षेत्रीय विषमता को और भी बढ़ाने की क्षमता रखती है। चूंकि वैश्वीकरण या विकेंद्रीकरण की प्रकिया में से किसी को भी पलटा नहीं जा सकता या विचलित नहीं किया जा सकता, तो ऐसे में सरकार को इस तरह संतुलन बनाना है ताकि राज्य स्तरीय संस्थाओं को भी विदेशी-आर्थिक संबंध के निर्माण और उसे विकसित करने की इजाजत मिले।

एक व्यावहारिक संघवाद का सिद्धांत केंद्र और राज्यों के बीच सत्ता के वितरण का हो सकता है लेकिन संघवाद की भावना और उसका सार, वर्तमान में कार्यरत राजनीतिक व्यवस्था के विकेंद्रीकरण की प्रवृति से संबंधित है। केंद्र से राज्यों को शक्तियों का महज एक आभासी स्थानांतरण और केंद्र और राज्यों में एक अनुशासनात्मक पदानुक्रम वाली राजनीतिक पार्टी की सरकार की मौजूदगी, संघवाद के सिद्धांत-सार की राह में एक बाधा ही है। संघवाद की ढांचागत स्वीकार्यता को तो एक तरह से स्वीकार कर लिया गया है लेकिन एक संघीय ढांचे के अधीन आंतरिक विविधता-क्षेत्रीय, वित्तीय और प्रशासनिक- के प्रति समांजस्यता की तरफ अग्रसरता अभी तक अधूरी है। जरूरत इस बात की है कि ढांचागत और राजनीतिक दोनों तरह से क्षेत्रीय शक्तियों के अनगिनत दवाबों और राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के केंद्र-वादी इरादों के बीच एक समांजस्यतापूर्ण लचीलापन दर्शाया जाए। भारतीय संघ के सहयोगात्मक मॉडल को अपनाने के लिए हमें अपने संघवाद के व्यावहारिक विचार को पुनर्संयोजित करना होगा ताकि मौजूदा समय की पहले से ही वर्चस्वशाली संघीय राजनीति लचीली हो सके। ❑

संदर्भः

अख्तर मजीद, क्लॉउड ऑवर फेडरलिज्म-द रीयल वर्किंग ऑफ द इंडियन पॉलिटी (नई दिल्ली, मानक पब्लिकेशन्स, 2010)

अख्तर मजीद (संपादित), फेडरलिज्म विदीन द यूनियन-डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ रिस्पांसबिलिटीज इन द इंडियन सिस्टम (नई दिल्ली, मानक पब्लिकेशन्स प्रा. लि., 2004)

अजय के मेहरा और गर्ट डब्ल्यू क्वेक (संपादित), द इंडियन पार्लियामेंट-ए कमपेरेटिव पर्सपेक्टिव (दिल्ली, कोनार्क पब्लिशर्स प्रा. लिं., 2003)

असीमा महाजन, द चेंजिंग पॉलिटिकल इकनॉमी ऑफ फेडरलिजम्म इन इंडिया ए हिस्टोरिकल इंस्टिट्यूशनलिस्ट अप्रोच, इंडिया रिव्यू, वर्ष-3, अंक-1, जनवरी 2004, पृ. 25-63

बी डी दुआ और एम पी सिंह (सं. 2003), इंडियन फेडरलिज्म इन द न्यू मिलेनियम (नई दिल्ली, मनोहर)

बलबीर अरोड़ा और डगलस वी. वेमे (संपादित), मल्टीपुल आडेंटिटीज इन ए सिंगल स्टेट इंडियन फेडरेलिज्म इन कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव (नई दिल्ली, कोनार्क पब्लिसर्स, 1995)

जॉन किनसिड (संपादित), फेडरलिज्म (लंदन, सेज पब्लिकेशन्स लि., 2011), खंड-2

एम गोविंद राव और निर्विकार सिंह, द पॉलिटिकल इकनॉमी ऑफ फेडरलिज्म इन इंडिया (नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005)

एम पी सिंह, रेखा सक्सेना (2013), फेडरलाइजिंग इंडिया इन द एज ऑफ ग्लोबलाइजेशन (दिल्ली, प्राइमस)

एस पी अय्यर और उषा मेहता (संपादित), एसेज ऑन इंडियन फेडरलिज्म (बंबई, अलाइड पब्लिशर्स प्रा. लि. 1965)

संघीय ढांचा व एकात्मकता का द्वंद्व

शिवानन्द द्विवेदी

हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि भारत के भूक्षेत्र में स्थित ये राज्य संघ के राज्य नही हैं बल्कि भारत ही राज्यों का संघ है। लिहाजा यहां हर हाल राज्यों का विभाजन एक राजनीतिक मांग की पूर्ति के फलस्वरूप ही हुआ है और होता रहा है। राजनीति के बदलते दौर ने भारत के शासकीय व्यवस्था से जुड़े ढांचे को अपने हिसाब से ही बदलने का काम किया है। लिहाजा राजनीति के परिप्रेक्ष्य में इस बात का मूल्यांकन करना भी अनिवार्य होगा कि आखिर केंद्र एवं राज्य के सम्बन्धों की वर्तमान परिस्थिति के लिए प्रथम आम चुनावों से अबतक की कौन-कौन सी राजनीतिक परिस्थितियां उत्तरदायी हैं

राज्य की उत्पत्ति एवं उसके संचालन की प्रक्रियाओं को लेकर इतिहास में कई प्रयोग एवं घटनाक्रम मिल सकते हैं। उन तमाम प्रयोगों एवं विकास की गतिशीलता ने आज राज्य को लोकतंत्र की शासकीय व्यवस्था के मुहाने पर पहुंचा दिया है। राज्य को लोकतांत्रिक होने की प्रवृत्ति अथवा लोकतंत्र की अवधारणा, उसके विकास के क्रम में अर्जित हुई है, न कि उसे विरासत में मिली है। आज जब हम लोकतांत्रिक राज्य के नागरिक हैं एवं लोकतंत्र को विश्व के राज्य-व्यवस्था की अनिवार्य जरूरत के रूप में देखने की स्थिति में आ चुके हैं, तो बहस इस विषय पर भी होनी है कि राज्य का आदर्श स्वरूप क्या हो एवं व्यवस्था-तंत्र का बुनियादी ढांचा कैसा हो?

राज्य के लोकतांत्रिक प्रारूप में शासन व्यवस्था को मूलतया दो प्रकार से देखा गया है, एकात्मक शासन व्यवस्था एवं संघात्मक शासन व्यवस्था। इन दोनों को परिभाषित करते हुए डायसी लिखते हैं *'एक केन्द्रीय शक्ति द्वारा सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है जबकि संघात्मक राज्य, एक ऐसे राजनीतिक उपाय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्य के अधिकारों में मेल स्थापित करना है।'* डायसी के अतिरिक्त डॉ. गार्नर आदि तमाम राजनीति विज्ञान के जानकारों ने भी संघात्मक एवं एकात्मक शासन व्यवस्था को कमोबेश इसी मजमून में स्पष्ट किया है। अब अगर डायसी के कथन को ही मानक मानकर भारतीय लोकतंत्र में संघीय ढांचे के अस्तित्व एवं भारत की व्यवहारिक राजनीति के समानांतर शासन व्यवस्था के विकास का विश्लेषण करें तो कई ऐसे पक्ष सामने आएंगे, जो संघीय ढांचे के मूल मानदंडों से अलग संघीय व्यवस्था का एक नया मानक स्थापित करेंगे। भारत के संदर्भ में कम से कम इस तथ्य पर तो विद्वानों के बीच सामान्य एका की स्थिति है कि भारत न तो पूर्ण एकात्मक राज्य है और न ही पूर्ण संघात्मक राज्य है। इस संदर्भ में राजनीतिविद डी.डी. बसु का कथन है *'भारत का संविधान न तो पूर्ण रूप से एकात्मक है और न ही पूर्ण रूप से संघात्मक है, वरन ये दोनों का मिश्रण है।'* भारत के संविधान के अनुच्छेद-1 में संघ-राज्य की बजाय इसे राज्यों का संघ कहा गया है। चूंकि जब भारतीय संविधान का निर्माण किया जा रहा था, उस समय संविधान निर्माताओं के समक्ष एक भारत शासन अधिनियम 1935 का मॉडल मौजूद था। संविधान निर्माता एक ऐसे शासकीय ढांचे को भारत में लागू करना चाहते थे जो भारत की भौगोलिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक मांगों की पूर्ति सके।

भारत का संविधान लिखा संघीय ढांचे के अनुरूप गया है, मगर इसके मूल में एकात्मकता भी स्पष्टतया परिलक्षित होती है। व्यवस्था के इन दो प्रकारों में से किसी एक प्रकार के प्रति जड़ न होकर भारत का संविधान यहां की राजनीतिक परिस्थितियों एवं शासकीय जरूरतों के अनुरूप परिवर्तनशील एवं गतिमान रहा है। भारत के शासन प्रणाली में संघीय प्रारूप एवं एकात्मकता के बीच राजनीति एक ऐसी कड़ी के तौर पर रही, जिसने समय-समय पर इस परिवर्तनशीलता को गति देने का काम किया है। भारतीय संविधान के अनुसार व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका की व्यवस्था का जो ढांचा

लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं। राजनीतिक, सामाजिक एवं विकास से जुड़े मुद्दों पर सतत् लेखन। देश के दर्जनों राष्ट्रीय समाचार-पत्रों के लिए लेखन। राजनीतिक शास्त्र विषय में स्नातकोत्तर की पढ़ाई। ईमेल: saharkavi111@gmail.com

खड़ा किया गया है, वो पूर्णतया संघीय मानदंडों को पुष्ट करता है। केंद्र एवं राज्य के बीच केवल विधायी एवं कार्यपालिका की शक्तियों का बंटवारा है, न्यायिक शक्तियां इस दायरे से परे हैं। केंद्र की संसदीय प्रणाली की तर्ज पर ही राज्यों की अपनी व्यवस्थापिका है, कार्यपालिका है। चूंकि व्यवस्था का जो स्वरूप भारतीय तंत्र में विकसित हुआ उसमे राज्य एवं केंद्र के बीच टकराव की स्थिति न हो इसलिए दायित्वों एवं अधिकारों को तीन सूचियों में चिह्नित करने का प्रयास किया गया है। केंद्र सूची, राज्य सूची एवं समवर्ती सूची। इन तीन सूचियों की व्याख्या में इस बात का भरसक प्रयास किया गया है कि विधायी व्यवस्था सम्बन्धी किसी भी मसले पर केंद्र एवं राज्य में टकराव की स्थिति न उत्पन्न होने पाए। चूंकि भारतीय राजनीति का स्वरूप जैसा है उसमें इस बात की संभावना अधिक है कि राजनीतिक हितों का टकराव व्यवस्था एवं केंद्र-राज्य संबंधों को प्रभावित कर सकता है। मसलन यहां जिक्र करना मुनासिब होगा कि संविधान राज्य सूची में केवल उन्हीं मसलों को तरजीह दी गयी है, जो स्थानीय महत्त्व के हों। जबकि संघ सूची केंद्र को अधिकतम शक्ति प्राप्त है। व्यवहारिक तौर पर अगर देखा जाय तो समवर्ती सूची पर अंतिम अधिकार केंद्र का ही है। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 256, 257 एवं 257(2) के तहत केंद्र को इतनी शक्ति प्राप्त है कि वो राज्यों पर अपना नियन्त्रण कायम कर सकता है। राज्यों के संघ भारत में केंद्र एवं राज्य के सम्बन्धों के दरम्यान मुख्यतया कुछ ऐसे बिंदु हैं जिन पर केंद्र एवं राज्यों के टकराव एवं अंततः केंद्र की मुहर की परम्परा विकसित हुई है।

संघ, राज्य एवं राजनीति

राजनीतिक मानदंडों पर अगर भारत की शासकीय व्यवस्था का मूल्यांकन करें तो हमें चर्चा प्रथम चुनावी राजनीति से लेकर हालिया के 2014 में हुए आम चुनावों तक की करनी होगी। प्रथम आम चुनाव यानी 1952 से लेकर 2014 तक भारतीय संघीय व्यवस्था एवं एकात्मक व्यावहारिकता के बीच कभी सामंजस्य तो कभी टकराव देखने को मिला है। इन्हीं घटनाक्रमों के समानांतर इकाईयों एवं उनके संघ यानी भारत की शासकीय व्यवस्था बदलती रही है। दरअसल राज्य की राजनीति के बुनियादी चरित्र पर वहां की व्यवस्था का संचालन काफी हद तक निर्भर करता है। उदाहरण सन्दर्भ के तौर पर अगर देखें तो जब 1952 में भारत अपने प्रथम आम चुनाव से रूबरू हुआ उस समय इस देश की क्षेत्रीयता की राजनीति शुरू हुई एवं न चाहते हुए भी तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू को राज्य पुनर्गठन आयोग बनाना पड़ा। प्रथम पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट पर सन 1956 में स्वतंत्र एवं लोकतान्त्रिक भारत में पहली बार राज्यों के अस्तित्व एवं अस्मिता के नाम पर गठन की परम्परा पड़ी। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर 14 राज्य एवं 6 केंद्रशासित प्रदेशों का गठन हुआ। केंद्र राज्य के टकराव एवं व्यवस्था में राज्यों के अस्तित्व की मजबूती का यह पहला पड़ाव था जब राज्य केंद्र से अपने वजूद एवं अस्तित्व की बात कर रहे थे। यह बदलाव बेशक राजनीतिक था लेकिन इसके समानांतर व्यवस्थागत परिवर्तन होना स्वाभाविक था। एक गैर-जरूरी ही सही मगर एकात्मकता की कल्पना में यह बात कही जा सकती है कि अगर राज्यों के विकास एवं गठन की राजनीतिक परिस्थिति तब पैदा नही हुई होती तो शायद भारत में एकात्मकता की शक्ति का प्रभाव ज्यादा हुआ होता। अतः भारत में संघीय ढांचा इस लिहाज से भी दुनिया के तमाम संघीय ढांचों से अलग है क्योंकि भारत में संघ का निर्माण न तो राज्यों के समर्पित विलय से हुआ है और न ही यहां राज्यों से कोई संधि समझौता ही है।

प्रथम आम चुनाव यानी 1952 से लेकर 2014 तक भारतीय संघीय व्यवस्था एवं एकात्मक व्यावहारिकता के बीच कभी सामंजस्य तो कभी टकराव देखने को मिला है। इन्हीं घटनाक्रमों के समानांतर इकाईयों एवं उनके संघ यानी भारत की शासकीय व्यवस्था बदलती रही है।

एक एकाकी राज्य के तौर पर भारत में समय और राजनीतिक परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप राज्य अस्तित्व में आते गए हैं। केंद्र की शक्ति एवं व्यवस्था के समानांतर भारत की विकासशील राजनीति ने खुद राज्यों के निर्माण का अवसर उपलब्ध कराया है और राज्य बनते गए हैं। प्रथम राज्य निर्माण के दौर अर्थात 1956 के बाद 1960, 1966, 1972 से 2013 तक राज्यों के गठन का एक बड़ा इतिहास है। आज 2014 में राज्यों के संघ भारत के पास कुल 29 राज्य एवं 8 केंद्र शासित प्रदेश हैं। बहरहाल जब ये स्पष्ट हो चुका है कि देश की बदलती राजनीति एवं बहुदलीय लोकतंत्र के विकास ने संघीय संसद के राज्यों की स्वतंत्रता को मजबूती दी तो इस बात की गुंजाइश भी बनती है कि बहुदलीय व्यवस्था में राजनीतिक हितों के टकराव से व्यवस्था एवं तंत्र का टकराव उत्पन्न हो जाता लिहाजा विधायी शक्तियों का बंटवारा सूचीबद्ध करके करने का प्रयास किया गया। राजनीतिक हितों के टकराव को संघीय ढांचे में संतुलित करने एवं राज्यों के संघ को बहुदलीय प्रणाली के बावजूद समुचित ढंग से संचालित करने के लिहाज से राज्यों का अधिकार क्षेत्र सूचीबद्ध नियामकों से तय कर देना एक बेहतरीन उपकरण साबित हुआ है। हालांकि संवैधानिक तौर पर संघराज्य न होने की वजह से भारत में केन्द्रीय सत्ता यानी संघ सूची को राज्य के सम्बन्ध में विशेष अधिकार प्राप्त हैं। राजनीतिक कारणों ने भले ही कालांतर में भारत की शासकीय व्यवस्था को संघीय ढांचे के अनुरूप व्यवस्थित किया हो लेकिन संवैधानिक तौर पर इस राज्य की आत्मा एकात्मकता में ही बसती है। चूंकि परम्परागत रूप से बहुदलीय लोकतंत्र में छोटे राजनीतिक दलों की क्षेत्रीय महत्वाकाक्षाएं भी होती हैं, लिहाजा वो क्षेत्रों से जुड़े मुद्दों पर अपनी बात रखते हैं। परिणामतः कई बार ऐसा होता है कि राष्ट्रीय मुद्दों पर राजनीति करने वाले दलों से टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

हाल ही केंद्र एवं राज्य के बीच टकराव का एक बड़ा मुद्दा तेलंगाना-सीमान्ध्र बंटवारे का आया है। दरअसल राज्यों के बंटवारे को लेकर अंतिम निर्णय केंद्र का ही होता है। इस संदर्भ में 28 अगस्त 1957 में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने एक निर्णय में स्पष्ट किया था कि राज्यों के पृथक्करण की स्थिति में राज्यों की स्थिति महज परामर्श देने तक ही सीमित है, अंतिम निर्णय केंद्र की संसद को है। हां, इस संदर्भ में एक बात जरूर है कि अगर राज्य की विधानसभा में पृथक्करण के खिलाफ एकमत हो तो संसद निर्णय नहीं ले सकती लेकिन अगर राज्य के विभाजन पर विधानसभा दो फाड़ हो, तो ऐसे में केन्द्रीय संसद से विभाजन को मंजूरी दी जा सकती है। तेलंगाना मसले में भी यही हुआ। हालांकि बहुदलीय लोकतंत्र के बदलते परिवेश में अगर राज्यों के हाथों राज्य-विभाजन की अंतिम शक्ति दे दी गयी तो राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए तमाम गैर-जरूरी राज्यों का बंटवारा

होने लगेगा। हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि भारत के भूक्षेत्र में स्थित ये राज्य संघ के राज्य नही हैं बल्कि भारत ही राज्यों का संघ है। लिहाजा यहां हर हाल में राज्यों का विभाजन एक राजनीतिक मांग की पूर्ति के फलस्वरूप ही हुआ है और होता रहा है। राजनीति के बदलते दौर ने भारत के शासकीय व्यवस्था से जुड़े ढांचे को अपने हिसाब से ही बदलने का काम किया है। लिहाजा राजनीति के परिप्रेक्ष्य में इस बात का मूल्यांकन करना भी अनिवार्य होगा कि आखिर केंद्र एवं राज्य के सम्बन्धों की वर्तमान परिस्थिति के लिए प्रथम आम चुनावों से अबतक की कौन-कौन सी राजनीतिक परिस्थितियां उत्तरदायी हैं।

संघीय ढांचे में बहुदलीय प्रणाली

देश में जब पहला आम चुनाव हो रहा था तब देश में राजनीति के बहुआयामी विकल्प नहीं थे एवं संसद का एक बड़ा हिस्सा केन्द्रीय सत्ता के राजनीतिक खेमे का प्रतिनधित्व कर रहा था लेकिन धीरे-धीरे स्थानीयता की राजनीति ने केंद्र की राजनीति को प्रभावित करना शुरू किया एवं आपातकाल के बाद क्षेत्रीय दलों के उभार के साथ-साथ केन्द्रीय राजनीति में विकल्प की संभावनाएं जागृत होने लगीं। आपातकाल के बाद क्षेत्रीय दलों के उभार एवं केंद्र में समानांतर विकल्प की संभावना का दौर आया एवं दक्षिण भारत की तर्ज पर यूपी, बिहार जैसे राज्यों में भी क्षेत्रीय दलों की भूमिका सशक्त होती गई। क्षेत्रीय दलों की सशक्त होती भूमिका एवं केन्द्रीय सत्ता को राज्यों से मिलने वाले राजनीतिक सहयोग की शर्तों ने कहीं न कहीं केंद्र पर राज्यों के व्यवहारिक दबाव की गुंजाइश दिखी। हालांकि राज्यों का राजनीतिक सशक्तीकरण 90 के दशक में कुछ इस तरह उभरकर आया कि अब केंद्र की सद्भावना पर आश्रित राज्यों का परम्परागत चरित्र ही बदल गया। उदाहरण के तौर पर 1998 में गठित राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार के साथ-साथ 2014 तक केन्द्रीय सत्ता में रही संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार को देखा जा सकता है। राजनीति के इस कालखंड में केंद्र एवं राज्यों के बीच की ये राजनीतिक समझौते की परिणिति ही थी कि किसी न किसी रूप में सैद्धांतिक पक्षों से इतर राज्यों की सरकारों ने केंद्र की सरकारों के कार्यों में व्यापक हस्तक्षेप किया। ये अलहदा बात है कि 2014 में हुए आम चुनावों के बाद राजनीतिक दबावों एवं परस्पर आवश्यकताओं की वजह से स्थापित होते रहे केंद्र एवं राज्य सम्बन्धों में व्यापक परिवर्तन हुआ है। वर्तमान में केंद्र में पूर्णबहुमत की सरकार है लिहाजा राज्यों का केन्द्रीय राजनीति में हस्तक्षेप विगत 15 वर्षों की अपेक्षा बेहद कम ही हो पायेगा एवं एकात्मकता की अवधारणा को पुनः बल मिलेगा। देश की वर्तमान संसद का आकार आगामी पांच साल तक कम से कम कुछ इस ढंग का रहने वाला है, संसद की ताकत सशक्त रहेगी। इस लिहाज से भी अगर देखा जाय तो हाल ही में हुए इस राजनीतिक परिवर्तन ने विगत लगभग डेढ़ दशक से चलती आ रही राजनीतिक परम्परा को विराम दिया है।

चूंकि संघराज्य न होने की वजह से यह सम्भव ही नहीं था कि भारत के भूक्षेत्र एवं राज्य-क्षेत्र में आने वाले राज्यों को संघीय व्यवस्था के अनुरूप व्यापक शक्तियां दी जा सकें। कई ऐसे मामले आये हैं जब केंद्र-राज्य के बीच शक्तियों का टकराव हुआ है। मसलन संप्रग-2 के दौरान एनसीटीसी के मसले पर कई राज्यों ने संघीय ढांचे का हवाला देते हुए इसका विरोध किया था जबकि केंद्र की सरकार ने आतंकवाद को राष्ट्रीय सुरक्षा का मसला बताते हुए इसे केंद्र सूची का विषय माना था। इस प्रकार के कई मसले आते रहे हैं जिससे केंद्र एवं राज्य की सरकारों के बीच संघीय ढांचे के नाम पर टकराव की स्थिति उत्पन्न होती रही है। हालांकि केंद्र राज्य सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी कहते हैं *'संघ एवं इकाइयों के बीच शक्तियों का पूर्ण विभाजन एवं स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष अस्तित्व न तो सम्भव है और न ही वांछनीय है। केंद्र की सत्ता का सुदृढ़ होना राज्य की सत्ता के क्षरण का द्योतक नही है, अपितु राष्ट्रहित में संघ एवं राज्य दोनों को साथ मिलकर चलने के लिए एक आधार है। केंद्र एवं राज्यों के बीच शक्ति सम्बन्धों के आधार पर संघीय ढांचे की गतिशीलता निर्धारित होती है।'*

राज्यों का राजनीतिक सशक्तीकरण 90 के दशक में कुछ इस तरह उभरकर आया कि अब केंद्र की सद्भावना पर आश्रित राज्यों का परम्परागत चरित्र ही बदल गया। उदाहरण के तौर पर 1998 में गठित राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन सरकार के साथ-साथ 2014 तक केन्द्रीय सत्ता में रही संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार को देखा जा सकता है।

आज जरूरत है कि संविधान के विस्तार एवं राज्य की आवश्यकताओं को देखते हुए पुनः संविधान पर नजर बनाने के लिए कोई संस्था बनाई जाय। चूंकि 1983-88 में बना सरकारिया आयोग इस काम के लिए बनाई गयी अंतिम संस्था थी।

संघराज्य बनाम राज्यों का संघ

भारत के संविधान के अनुच्छेद-1 में भारत को राज्यों का संघ कहा गया है। ये एक आम भ्रमस्थिति है कि भारत संघराज्य है या एकात्मक राज्य है लेकिन राज्यों का संघ कहे जाने के पीछे मूल कारण ये है कि यहां के राज्य संघ के रूप भारत के संविधान को अपना समर्पण नहीं किए हुए हैं बल्कि संविधान ही भारत को इन 29 राज्यों का संघ बनाता है। हालांकि आजादी के लगभग 14 साल बाद गोवा का भारत में विलय हुआ। गोवा के विलय के बाद यह राज्य भी राज्यों के संघ की सूची में एक राज्य के तौर पर स्थापित हुआ। संघराज्य के तौर पर एक आदर्श उदाहरण अगर दिया जाय तो संयुक्त राज्य अमेरिका से बेहतर कोई नाम नहीं होगा। अमेरिका पूर्ण रूप से संघराज्य है। विशाल भूभाग पर दूर-सुदूर फैले अलग-अलग राज्यों ने एक समझौते के तहत अपना समर्पण संयुक्त राज्य अमेरिका के संघीय ढांचे वाले संविधान को दिया जहां संविधान द्वारा उन राज्यों के नागरिकों को दोहरी नागरिकता एवं खुद को संघराज्य से अलग होने का व्यापक अधिकार प्रदान किया गया।

जिन 49 राज्यों एवं एक जिले के संवैधानिक समझौते की परिणिति से संयुक्त राज्य अमेरिका नामक देश बनता है, उन सभी राज्यों को संघीय ढांचे के अनुसार जुड़ने एवं पृथक होने का अधिकार प्राप्त है। जबकि राज्यों के संघ भारत में राज्यों के साथ संघ का कोई ऐसा समझौता नही है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जो व्यवस्था है संघवाद की अवधारणा का आदर्श स्वरूप है। संघवाद पर टिप्पणी करते हुए प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी कहते हैं 'लोकहित के लिए संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत शासन द्वारा कल्याणकारी कार्य किया जाना निरंतर अभीष्ट है। इस कड़ी में सामयिक समस्याओं के समाधान एवं जनहित सम्बन्धी व्यापक अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु संघीय ढांचे की अतिशय उपादेयता है। संघीय व्यवस्था एक सकारात्मक एवं विकासात्मक अवधारणा है जो किसी निश्चित समय की उपज नही है अपितु क्रमिक विकास का प्रतिफल है। ❑

ACCESS PUBLISHING INDIA PVT. LTD.

www.accesspublishing.in

AFFORDABLE & UPDATED!

Teaching Experience of Most Authors 20 to 40 YEARS

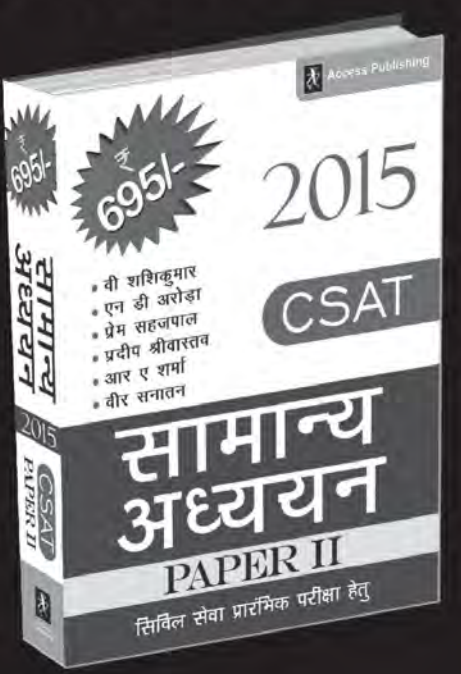

अन्य उपयोगी पुस्तकें

Address: 14/6, Ground Floor (Backside), Shakti Nagar, Delhi - 110 007

Email: info@accesspublishing.in, Ph.: 011-23843715, Mob.: 9810312114

YH - 307/2014

रियासतों से भारत संघ बनने की कहानी

संजय श्रीवास्तव

देश में ऐसी रियासतों की कोई कमी नहीं थी, जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखना चाहती थीं। उनकी यह इच्छा उस समय और बलवती हो गयी जब अंग्रेजों ने भारतीय रियासतों को विलय के लिए स्वविवेक का अधिकार दे दिया। उनके सामने ये विकल्प भी था कि वह अगर चाहें तो अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बचाये भी रख सकती हैं। बहुत से राजाओं ने स्वतंत्रता मिलते ही अपने को स्वतंत्र घोषित करने के सपने पालने आरंभ कर दिये। रामपुर और पालनपुर के नवाब ऐसे शासक थे जिन्होंने बिना देरी किये और बिना किसी संकोच के भारतीय संघ में मिलने की घोषणा कर दी

वर्ष 1946 के अक्टूबर महीने तक तय हो चुका था कि भारत को आजादी दे दी जाएगी। जब 24 मार्च 1947 को लार्ड माउंटबेटन को सत्ता हस्तांतरण के लिए नया वायसराय बनाकर भारत भेजा गया तो उन्होंने आजादी की तारीख 15 अगस्त 1947 तय की। इस मुल्क का बंटवारा भी निश्चित हो गया था। बनने वाले दो नए राष्ट्र थे भारत और पाकिस्तान। माउंटबेटन के भारत आते ही सत्ता हस्तांतरण, सीमा निर्धारण और संपत्तियों के बंटवारे के काम में अचानक तेजी आ गई। देश के विभाजन पर मुस्लिम लीग और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 14 मई को अंतिम तौर पर स्वीकृति दे दी।

संवैधानिक स्थिति

17 जून 1947 को भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किया गया। इसे 18 जुलाई को शाही स्वीकृति मिली जिसके अनुसार 15 अगस्त 1947 को भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई तथा उसके एक भाग को काट कर नवगठित राष्ट्र पाकिस्तान का उदय हुआ।

पाकिस्तान के अधीन पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत एवं सिंध का भाग आया। ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन रहा शेष भू-भाग भारत के साथ रहा। इस अधिनियम से ब्रिटिश भारत की रियासतें अंग्रेजी राज की परमोच्चता से तो मुक्त हो गईं, परन्तु उन्हें राष्ट्र का दर्जा नहीं मिला। उन्हें यह सुझाव दिया गया कि भारत या पाकिस्तान में जुड़ने में ही उनका हित है। इस अधिनियम के लागू होते ही रियासतों की सुरक्षा की अंग्रेजों की जिम्मेदारी भी स्वयमेव समाप्त हो गई। जिस समय ब्रिटिश भारत छोड़ रहे थे, उस समय यहां के 562 रजवाड़ों में सिर्फ तीन को छोडकर सभी ने भारत में विलय का फैसला किया। ये तीन रजवाड़े थे कश्मीर, जूनागढ़ और हैदराबाद।

भारत में रियासतों का विलय

माउंटबेटन ने देशी राज्यों को सलाह दी थी कि भौगोलिक स्थिति के अनुकूल वो भारत या पाकिस्तान उपनिवेशों के साथ मिल जाएं। साथ ही उन्हें चेतावनी दी गई कि 15 अगस्त के बाद उन्हें ब्रिटेन से कोई प्रश्रय नहीं मिलेगा। राजाओं ने ये सलाह मान ली थी लेकिन कुछ राजा इसके खिलाफ थे। इसकी अगुवाई भोपाल के नवाब कर रहे थे। जूनागढ़ और हैदराबाद के शासकों के साथ मिलकर वह रियासतों को उकसाने की अगुवाई कर रहे थे। मोहम्मद अली जिन्ना भी इन राजाओं को भड़का रहे थे। उन्होंने राजाओं से वादा किया था कि वो कराची को मुक्त बंदरगाह के तौर पर इस्तेमाल कर सकते हैं। भोपाल से कराची तक की राज्य माला में एक ही अड़चन थी, उदयपुर। उदयपुर के महाराजा ने इस अभियान में हिस्सा लेने से इंकार कर दिया। उन्होंने कहा कि अगर हमारे पुरखे मुगलों का साथ देते तो आज हमारा राज्य जयपुर और जोधपुर से कहीं ज्यादा बड़ा होता।

हालांकि देश में ऐसी रियासतों की कोई कमी नहीं थी, जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखना चाहती थीं। उनकी यह इच्छा उस समय और बलवती हो गयी जब अंग्रेजों ने भारतीय रियासतों को विलय के लिए स्वविवेक का अधिकार दे दिया। उनके सामने ये विकल्प भी था कि वह अगर चाहें तो अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बचाये भी रख सकती हैं। बहुत से राजाओं ने स्वतंत्रता मिलते ही अपने को स्वतंत्र घोषित करने के सपने पालने आरंभ

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं। लगभग ढाई दशक से बहुविध विषयों पर लेखन कर रहे हैं। प्रकाशित पुस्तकें: *1857 से लेकर 1947 वे 90 साल, मर्लिन मुलरो-स्वप्न परी, क्रिकेट के चर्चित विवाद* आदि। संप्रति एक राष्ट्रीय दैनिक से जुड़े हैं। ईमेल: sanjayratan@gmail.com

कर दिये। रामपुर और पालनपुर के नवाब ऐसे शासक थे जिन्होंने बिना देरी किये और बिना किसी संकोच के भारतीय संघ में मिलने की घोषणा कर दी जबकि मंगरोल के शासक ने कुछ हिचकिचाहट के साथ अपना अस्तित्व भारतीय संघ के साथ विलीन कर दिया।

इस बीच भोपाल, जूनागढ़, इंदौर और हैदराबाद की रियासतों से मांग उठ रही थी कि 15 अगस्त को उन्हें भारत में विलय से अलग रखा जाए। उन्हें अपना फैसला खुद करने दिया जाए। भोपाल के नवाब ने अपने सलाहकार को लंदन भेजा। साथ में इस बारे में माउंटबेटन और जिन्ना को भी खत लिखा। वहीं त्रावणकोर ने भी भारत में विलय नहीं होकर स्वतंत्र अस्तित्व रखने की घोषणा की। हैदराबाद ने भारत में विलय से इंकार कर दिया। उसने फ्रांस के राजनयिक संबंधों के लिए चोरी चुपके पहल की कोशिश की। नगालैंड ने भी खुद को स्वतंत्र राज्य घोषित करने की इच्छा जाहिर की। अब सारे मामले में सरदार पटेल ने सक्रियता दिखानी शुरू की। उन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की। पटेल ने भारतीय नरेशों से सावधानी से वार्तालाप किया। पूरा ध्यान रखा कि किसी भी राजा के सम्मान को चोट न लगे और वह भारत में विलय की बात मान ले।

भोपाल का विलय

15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता मिलने के उपरांत भोपाल के नवाब ने अपने चैम्बर ऑफ प्रिंसेस को अधिकृत कर कार्यरत घोषित कर दिया। भोपाल के नवाब 25 जुलाई 1947 की उस बैठक में भी नही गए थे, जिसे माउंट बेटन ने दिल्ली में आहूत किया था लेकिन इसके बाद माउंट बेटन ने भोपाल के नवाब को समझाया और स्थितियां ऐसी बनीं कि उन्हें भारत में विलय प्रस्ताव पर हस्ताक्षर के लिए सहमत होना पड़ा। कुछ हिचकिचाहट के साथ उन्होंने मान लिया। वहीं त्रावणकोर में जनता भारत के साथ विलय के पक्ष में थी, इसके चलते वहां हालात इतने बेकाबू होने लगे कि वहां के राजा को भी विलय पर हस्ताक्षर करने पड़े।

जूनागढ़ की कहानी

जूनागढ़ में नवाब मुहम्मद महाबत खान और दीवान शाह नवाज भुट्टो की मंशा हिन्दू बहुसंख्यक आबादी के बावजूद पाकिस्तान में विलय की थी। मोहम्मद अली जिन्ना ने उन्हें पाकिस्तान में विलय के लिए बड़े बड़े सपने दिखाए थे। *जिन्ना पेपर्स* के अनुसार जूनागढ़ के दीवान और जुल्फिकार अली भुट्टो के पिता शाह नवाज ने पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली खान को 19 अगस्त को पत्र लिखा, हम जूनागढ़ के पाकिस्तान में मिलाए जाने के लिए औपचारिक स्वीकृति का इंतजार कर रहे हैं और मुझे खुशी होगी कि अगर आप इसे जल्दी से जल्दी अमलीजामा पहना सकें *(पृष्ठ 548)* । इस मामले में देरी होते देख उन्होंने चार सितंबर को जिन्ना को फिर दिल्ली में उनके द्वारा किए गए वादे को याद दिलाते हुए पत्र लिखा, पाकिस्तान नहीं चाहेगा कि जूनागढ़ उससे छिटके और वेरावल कराची से बहुत ज्यादा दूर नहीं है। जिन्ना ने जवाब दिया, कल हम कैबिनेट मीटिंग में इस बारे में विचार विमर्श करेंगे और नीति बनाएंगे।

पाकिस्तान ने आठ सितंबर को पाकिस्तान-जूनागढ़ समझौते की घोषणा की, जिसमें ये कहा गया था कि जूनागढ़ के शासक पाकिस्तान में विलय को तैयार हैं। नेहरू ने

भोपाल, जूनागढ़, इंदौर और हैदराबाद की रियासतों से मांग उठ रही थी कि 15 अगस्त को उन्हें भारत में विलय से अलग रखा जाए। भोपाल के नवाब ने अपने सलाहकार को लंदन भेजा। साथ में इस बारे में माउंटबेटन और जिन्ना को भी खत लिखा। वहीं त्रावणकोर ने भी भारत में विलय नहीं होकर स्वतंत्र अस्तित्व रखने की घोषणा की।

इसका विरोध करते हुए 12 सितंबर को लियाकत अली खान को पत्र लिखा और कहा कि चूंकि जूनागढ़ की 80 फीसदी आबादी हिन्दू है और इस बारे में रायशुमारी करके उनकी राय नहीं ली गई है, लिहाजा ये मामला जूनागढ़ के लोगों की सहमति के बगैर कदम उठाए जाने का है। भारत सरकार इस तरह से जूनागढ़ के पाकिस्तान में विलय को सहमति नहीं देगी। इस विलय का भी कोई संवैधानिक आधार नहीं बनता। ये मामला जूनागढ़ और भारत के बीच बनता है। इसके बावजूद 15 सितंबर 1947 को जूनागढ़ ने पाकिस्तान के साथ विलय को औपचारिक तौर पर स्वीकार कर लिया। बस इसके बाद भारतीय फौजों की रवानगी शुरू हो गई। भुट्टो को समझ में आ गया कि खतरा है और उन्होंने 16 सितंबर को लियाकत से मदद मांगते हुए कहा, कम से कम हमें ये तो बताइए कि आप हमें किस तरह की मदद दे रहे हैं और हमें किस तरह से कार्रवाई करनी चाहिए। भारत जूनागढ़ में सैन्य कार्रवाई के लिए तैयार था। दिल्ली में केवल ये मुद्दा था कि कार्रवाई कैसे की जाए।

एचवी हडसन की किताब द *ग्रेट डिवाइड* के अनुसार गर्वनर जनरल माउंटबेटन ने सम्राट् को रिपोर्ट दी, जूनागढ़ के मामले पर विचार के लिए शाम को एक कैबिनेट मीटिंग इस पर विचार करेगी। कैबिनेट के सदस्यों ने मीटिंग से पहले सूचित किया कि वो इस फैसले पर पहुंच चुके हैं कि सैन्य कार्रवाई ही एकमात्र जवाब है। जिन्ना ने भारतीय फौजों की हलचल की शिकायत माउंटबेटन से की। माउंटबेटन ने उन्हें जो जवाब दिया, उसका सार यही था कि पाकिस्तान जो भी कर रहा है जो भारत सरकार के साथ उसके समझौते का उल्लंघन है। उन्होंने जूनागढ़ की आबादी के इस विलय पर रायशुमारी की बात कही, जिसमें वहां की 80 फीसदी जनता भारत के साथ जाने को तैयार थी। पाकिस्तान निरुत्तर हो गया। 25 सितंबर को जूनागढ़ मुक्त करा लिया गया।

पुस्तक *सरदार लेटर्स* के अनुसार, बंबई में उस दिन स्वतंत्र जूनागढ़ की अस्थाई सरकार गठित की गई। सामलदास गांधी को प्रेसीडेंट बनाया गया। इस सरकार में मंत्री बने के एम मुंशी ने घोषणा की कि जूनागढ़ की अस्थाई सरकार सौराष्ट्र से कामकाज करेगी और राजकोट के जूनागढ़ हाउस को इसके लिए कब्जे में ले लिया गया। सौराष्ट्र के कोने कोने युवा लोगो स्वतंत्रता का बैनर लिए वहां जुटने लगे। अस्थाई सरकार ने कामकाज शुरू कर दिया। लोग जूनागढ़ कई इलाके में नवाब के शासन के खिलाफ खुलेआम तौर पर सामने आ गए। हालांकि पाकिस्तान सरकार अभी जूनागढ़ पर गोलमोल थी। वीपी मेनन की पुस्तक *इंटीग्रेशन आफ इंडिया इनस्टेड* के अनुसार हालात और दबाव के आगे भुट्टो टूटते जा रहे थे। पाकिस्तान की ओर से कोई खास पहल होती नहीं दिख रही थी। इन्हीं सब परिस्थितियों के बीच 09 नवंबर को भारतीय फौजें जूनागढ़ में प्रवेश कर गईं। नेहरू ने औपचारिक तौर पर इसकी सूचना लियाकत अली खान को दी। 20 फरवरी 1948 को जूनागढ़ में भारत सरकार ने जनमत संग्रह कराया। इसे आईसीएस अफसर सीबी नागरकर की देखरेख में कराया गया। कुल 2,01, 457 वोटरों में 1,90,870 ने अपने वोट डाले। पाकिस्तान के पक्ष में केवल 91 वोट पड़े।

हैदराबाद में सैनिक कार्रवाई

अब आते हैं हैदराबाद की रियासत पर। अंग्रेजों के दिनों में भी हैदराबाद की अपनी

सेनाए रेल सेवा और डाक तार विभाग हुआ करता था। उस समय आबादी और कुल राष्ट्रीय उत्पाद की दृष्टि से हैदराबाद भारत का सबसे बड़ा राजघराना था। उसका क्षेत्रफल 82697 वर्ग मील था जो कि इंग्लैंड और स्कॉटलैंड के कुल क्षेत्रफल से भी अधिक था। हैदराबाद की आबादी का अस्सी फीसदी हिंदू लोग थे जबकि अल्पसंख्यक होते हुए भी मुस्लिम प्रशासन और सेना में महत्वपूर्ण पदों पर बने हुए थे।

हैदराबाद के निजाम भी पूरी तरह से भारत में विलय के खिलाफ थे। इतिहासकार केएम मुंशी की किताब "एंड ऑफ एन एरा" में लिखा है कि निजाम ने जिन्ना को संदेश भेजकर जानने की कोशिश की क्या भारत के खिलाफ लड़ाई में वह हैदराबाद का समर्थन करेंगे। प्रधानमंत्री नेहरू और माउंटबेटन इस पक्ष में थे कि पूरे मसले का हल शांतिपूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए। सरदार पटेल इससे सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि उस समय का हैदराबाद, भारत के पेट में कैंसर के समान था, जिसे बर्दाश्त नहीं किया जा सकता था।

पटेल को अंदाजा था कि हैदराबाद पूरी तरह से पाकिस्तान के कहने में था। यहां तक कि पाकिस्तान पुर्तगाल के साथ हैदराबाद का समझौता कराने की फिराक में था जिसके तहत हैदराबाद गोवा में बंदरगाह बनवाएगा और जरूरत पड़ने पर उसका इस्तेमाल कर सकेगा। और तो और, हैदराबाद के निजाम ने राष्ट्रमंडल का सदस्य बनने की भी इच्छा जाहिर की थी, जिसे इटली सरकार ने ठुकरा दिया था। निजाम के सेनाध्यक्ष मेजर जनरल एल एदरूस ने अपनी किताब *हैदराबाद ऑफ द सेवेन लोव्स* में लिखा है कि निजाम ने उन्हें खुद हथियार खरीदने यूरोप भेजा था। वह अपने मिशन में सफल नहीं हो पाए थे।

एक समय जब निजाम को लगा कि भारत हैदराबाद के विलय के लिए दृढ़संकल्प है तो उन्होंने ये पेशकश भी की कि हैदराबाद को एक स्वायत्त राज्य रखते हुए विदेशी मामलों, रक्षा और संचार की जिम्मेदारी भारत को सौंप दी जाए। पटेल हैदराबाद पर सैन्य कार्रवाई के पक्ष में थे। उसी दौरान पटेल ने जनरल केएम करियप्पा को बुलाकर पूछा कि अगर हैदराबाद के मसले पर पाकिस्तान की तरफ से कोई सैनिक प्रतिक्रिया आती है तो क्या वह बिना किसी अतिरिक्त मदद के उन हालात से निपट पाएंगे? करियप्पा ने इसका एक शब्द का जवाब दिया, 'हां' और इसके बाद बैठक खत्म हो गई।

इसके बाद सरदार पटेल ने हैदराबाद में सैनिक कार्रवाई को अंतिम रूप दिया। भारत के तत्कालीन सेनाध्यक्ष जनरल रॉबर्ट बूचर इस फैसले के खिलाफ थे। उनका कहना था कि पाकिस्तान की सेना इसके जवाब में अहमदाबाद या बंबई पर बम गिरा सकती है। दो बार भारतीय सेना की हैदराबाद में घुसने की तारीख तय की गई लेकिन राजनीतिक दबाव के चलते इसे रद्द करना पड़ा। निजाम ने गवर्नर जनरल राजगोपालाचारी से व्यक्तिगत अनुरोध किया कि वे ऐसा न करें। इसी बीच पटेल ने गुप्त तरीके से योजना को अंजाम देते हुए भारतीय सेना को हैदराबाद भेज दिया। जब नेहरू और राजगोपालाचारी को भारतीय सेना के हैदराबाद में प्रवेश कर जाने की सूचना दी गई तो वो चिंतित हो गए। पटेल ने घोषणा की कि भारतीय सेना हैदराबाद में घुस चुकी है और इसे रोकने के लिए अब कुछ नहीं किया जा सकता। दरअसल नेहरू की चिंता ये थी कि कहीं पाकिस्तान कोई जवाबी कार्रवाई न कर बैठे। भारतीय सेना की इस कार्रवाई को ऑपरेशन पोलो का नाम दिया गया क्योंकि उस समय हैदराबाद में विश्व में सबसे ज्यादा 17 पोलो के मैदान थे।

जब निजाम को लगा कि भारत हैदराबाद के विलय के लिए दृढ़संकल्प है तो उन्होंने ये पेशकश भी की कि हैदराबाद को एक स्वायत्त राज्य रखते हुए विदेशी मामलों, रक्षा और संचार की जिम्मेदारी भारत को सौंप दी जाए। पटेल हैदराबाद पर सैन्य कार्रवाई के पक्ष में थे।

पाकिस्तान भी चुपचाप नहीं बैठा था। जैसे ही भारतीय सेना हैदराबाद में घुसी, पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधानमंत्री लियाकत अली खां ने अपनी डिफेंस काउंसिल की बैठक बुलाई और उनसे पूछा कि क्या हैदराबाद में पाकिस्तान कोई एक्शन ले सकता है? बैठक में मौजूद ग्रुप कैप्टेन एलवर्दी, जो बाद में एयर चीफ मार्शल और ब्रिटेन के पहले चीफ ऑफ डिफेंस स्टाफ बने, ने कहा 'नहीं'। लियाकत ने जोर दे कर पूछा "क्या हम दिल्ली पर बम नहीं गिरा सकते हैं" एलवर्दी का जवाब था कि हां ये संभव तो है लेकिन पाकिस्तान के पास कुल चार बमवर्षक हैं जिनमें से सिर्फ दो काम कर रहे हैं। इनमें से एक शायद दिल्ली तक पहुंच कर बम गिरा भी दे लेकिन इनमें कोई वापस नहीं आ पाएगा।

भारतीय सेना की कार्रवाई हैदराबाद में पांच दिनों तक चली, इसमें 1373 रजाकार मारे गए। हैदराबाद स्टेट के 807 जवान भी खेत रहे। भारतीय सेना ने अपने 66 जवान खोए जबकि 96 जवान घायल हुए। भारतीय सेना की कार्रवाई शुरू होने से दो दिन पहले ही 11 सितंबर 1948 को पाकिस्तान के संस्थापक मोहम्मद अली जिन्ना का निधन हो गया था।

पाकिस्तान ने फिर इस मामले को संयुक्त राष्ट्र में उठाने की कोशिश की, वो इसमें कामयाब भी हुआ। उस समय आठ सदस्यों ने वोट दिया कि इस पर विचार किया जाये। सोवियत संघ, चीन और यूक्रेन ने तटस्थ रहकर एक तरह से भारत का साथ दिया। अगर ये मामला संयुक्त राष्ट्र संघ में उठता तो पाकिस्तान को अंतर्राष्ट्रीय तौर पर काफी फायदा मिल सकता था। संयुक्त राष्ट्र में मामले पर विचार के लिए 17 सितंबर 1948 की तारीख तय की गई। इससे एक दिन पहले ही हैदराबाद के निजाम उस्मान अली खान ने आत्मसमर्पण कर दिया। पाकिस्तान और उसके समर्थकों का चेहरा फक पड़ गया। रही-सही कसर भारतीय प्रतिनिधियों के बैठक में नहीं आने से पूरी हो गई। यानी पूरा मामला ही खत्म हो गया। लंबे चौड़े हैदराबाद का कुछ हिस्सा बाद में राज्यों के पुनर्गठन के दौरान महाराष्ट्र और कर्नाटक में चला गया और इसी के बड़े हिस्से को मिलाकर आंध्र प्रदेश बना।

कश्मीर का मामला

जम्मू और कश्मीर के महाराजा हरि सिंह ने स्वाधीनता की घोषणा कर दी। हरि सिंह 1925 में कश्मीर की गद्दी पर बैठे थे। वह अपना अधिकांश समय बंबई के रेसकोर्स और अपनी रियासत के बड़े जंगलों में शिकार पर बिताया करते थे। कश्मीर में उनके सबसे बड़े विरोधी शेख अब्दुल्ला थे। उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से एम.एससी की थी। उन्हें अपनी बातें तर्कों, तथ्यों के साथ रखनी आती थी। चूंकि कश्मीर रियासत में प्रशासन में हिंदुओं का बोलबाला था। इसलिए उन्होंने इस पर सवाल उठाना शुरू किया क्योंकि उनके अनुसार मुस्लिम बहुसंख्यक थे और राजस्व में सबसे ज्यादा योगदान करते थे।

1932 में उन्होंने महाराजा के खिलाफ बढ़ रहे असंतोष को आवाज देने के लिए ऑल जम्मू-कश्मीर मुस्लिम कांफ्रेंस का गठन किया। छह साल के बाद उन्होंने इसका नाम बदलकर नेशनल कॉन्फ्रेंस रख लिया, जिसमें हिंदू और

सिख समुदाय के लोग भी शामिल होने लगे। इसी समय अब्दुल्ला ने जवाहरलाल नेहरू से भी नजदीकी बढ़ाई। दोनों हिंदू-मुस्लिम एकता और समाजवाद पर एकमत थे। नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस में नजदीकियां होने लगीं। अब्दुल्ला 1940 के दशक में कश्मीर के सबसे लोकप्रिय नेता बन चुके थे। कई बार वह जेल गये। आजादी से पहले अब्दुल्ला ने कश्मीर में राजतंत्र की जगह प्रजातंत्र लाने के लिए आंदोलन शुरू किया। उन्हें जेल में डाल दिया गया।

महाराजा के मन में स्वतंत्र होने का विचार जड़ जमा चुका था। वह कांग्रेस से नफरत करते थे, इसलिए भारत में शामिल होने के बारे में सोच भी नहीं सकते थे लेकिन अगर वो पाकिस्तान में शामिल हो जाते तो उनके हिंदू राजवंश का सूरज अस्त हो जाता। नेहरू ने 27 सितम्बर 1947 को पटेल को कश्मीर की खतरनाक और बिगड़ती हुई स्थिति के बारे में लंबा पत्र लिखा। उन्हें खबर मिली थी कि पाकिस्तान बड़ी संख्या में कश्मीर में घुसपैठियों को भेजना चाहता है। इस बीच 25 सितम्बर 1947 को शेख अब्दुल्ला को जेल से रिहा किया जा चुका था।

जहां तक महाराजा हरि सिंह का सवाल है तो वो अब भी आजाद कश्मीर के ख्वाब में जी रहे थे। जम्मू कश्मीर के उप प्रधानमंत्री ने 12 अक्टूबर को दिल्ली में कहा कि हम भारत और पाकिस्तान दोनों के साथ दोस्ताना संबंध कायम रखना चाहते हैं। महाराजा की महत्वाकांक्षा कश्मीर को पूरब का स्विट्जरलैंड बनाने की है। एक ऐसा मुल्क जो बिल्कुल निरपेक्ष होगा। उन्होंने आगे कहा कि केवल एक ही चीज हमारी राय बदल सकती है और वो ये है कि अगर दोनों देशों में कोई भी हमारे खिलाफ शक्ति का इस्तेमाल करता है तो हम अपनी राय पर पुनर्विचार करेंगे। इस वक्तव्य के केवल दो हफ्ते बाद ही हजारों हथियारबंद कबायलियों ने राज्य पर उत्तर दिशा से हमला कर दिया। वो 22 अक्टूबर को उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत और कश्मीर के बीच की सरहद को पार कर गए और तेजी से राजधानी श्रीनगर की ओर बढ़े। इन हमलावरों में ज्यादातर पठान थे, जो उस इलाके से आए थे जो अब पाकिस्तान के कब्जे में है। इन कबायली विद्रोहियों ने बारामूला में बड़ा उत्पात मचाया। महाराजा ने 24 अक्टूबर को भारत सरकार को सैनिक सहायता का संदेश भेजा। अगले दिन दिल्ली में भारत की सुरक्षा समिति की बैठक हुई और वीपी मेनन को जहाज से तुरंत श्रीनगर रवाना किया गया। उन्होंने श्रीनगर में महाराजा से मुलाकात करने के बाद उन्हें हमलावरों से सुरक्षित जम्मू जाने की सलाह दी।

नेहरू कबायलियों से मुकाबले के लिए भारतीय सेना को फौरन कश्मीर भेजना चाहते थे। माउंटबेटन ने उन्हें ऐसा करने से मना कर दिया। उन्होंने महाराजा से पहले विलय के कागजों पर दस्तखत करा लेने को कहा। उनका साफ कहना था कि बिना कानूनी विलय के वह ब्रिटिश अफसरों को भारतीय सेना के साथ नहीं जाने देंगे। वीपी मेनन को 26 अक्टूबर को जम्मू में महाराजा के पास फिर से भेजा गया। वहां मेनन से उनसे विलय पत्र पर दस्तखत कराए और दिल्ली आ गए। जैसे ही ये कानूनी कार्यवाही पूरी हुई। नई दिल्ली ने माउंटबेटन की हिचकिचाहट की परवाह किए बगैर भारतीय सैनिकों से भरे विमान श्रीनगर भेजने शुरू कर दिए। तब तक हमलावर श्रीनगर से कुछ ही दूरी पर रह गए थे। जब भारतीय जवानों का पहला जत्था श्रीनगर हवाई अड्डे पर पहुंचा तो हमलावर हवाई अड्डे की सरहद तक आ पहुंचे थे। अगर हमलावरों ने बारामूला में लूटपाट में समय बर्बाद नहीं किया होता तो वो हवाई अड्डे पर कब्जा कर चुके होते और भारतीय विमानों को वहां उतारना मुश्किल हो जाता।

गांधीजी ने भी सेना की कार्रवाई का समर्थन किया और कहा कि अगर किसी समुदाय की रक्षा करने में कायरता आड़े आ रही हो तो उसे बचाने के लिए लड़ाई का सहारा लेना कहीं बेहतर था। इसके बाद भारत ने उरी तक के क्षेत्र से कबायलियों को खदेड़ते हुए इसे अपने कब्जे में ले लिया। कश्मीर को लेकर दोनों देशों में तनातनी चरम पर थी। ये तब तक जारी रही जब पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली संयुक्त सुरक्षा समिति की बैठक में भाग लेने के लिए दिल्ली आए थे। वह और नेहरू इस बात पर सहमत हो गए थे कि पाकिस्तान कबायलियों को लड़ाई बंद करके जल्दी से जल्दी वापस लौटने के लिए कहेगा और भारत भी अपनी ज्यादातर सेनाएं हटा लेगा और संयुक्त राष्ट्र को जनमत संग्रह के लिए एक कमीशन भेजने के लिए कहा जाएगा। माउंटबेटन की सलाह से ही भारत इस मामले को संयुक्त राष्ट्र में ले गया था। ये एक बड़ी भूल साबित हुई। बहुत से भारतीय नेता इस मामले को संयुक्त राष्ट्र में ले जाने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि उन्हें आशंका थी कि ब्रिटेन पाकिस्तान का साथ देगा। यही हुआ भी। अमेरिका और ब्रिटेन ने मिलकर कश्मीर में अब्दुल्ला सरकार को हटाए जाने और जनमत संग्रह होने तक कश्मीर को संयुक्त राष्ट्र के नियंत्रण में लाए जाने की मांग की। ❑

संदर्भ:

एजी नूरानी: फ्रंटलाइन अक्टूबर 2001
जिन्ना पेपर्स: पाकिस्तान: पेंग्स ऑफ बर्थ 15 अगस्त- 30 सितंबर 1947, खंड पांच, मुख्य संपादक जेड एच जैदी
सरदार लेटर्स
इंटीग्रेशन आफ इंडिया इनस्टेड: वीपी मेनन
द ग्रेट डिवाइड: एचवी हडसन
कर्जन टू नेहरू: दुर्गादास
फ्रीडम एट मिडनाइट: डोमनिक लेपियर
बियांड द लाइंस: कुलदीप नैयर
द ग्रेट पार्टिशन: द मेकिंग ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान- यास्मीन खान
इंडिया आफ्टर गांधी: रामचंद्र गुहा
हैदराबाद ऑफ द सेवन लोव्स: मेजर जनरल एल एदरूस
आधुनिक भारत का इतिहास: विपिन चंद्र

योजना
आगामी अंक
मार्च 2015
केन्द्रीय बजट 2015-16 (विशेषांक)

बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ

साल 2011 की जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि चिंताजनक रूप से गिरता बाल लिंग अनुपात (सीएसआर) इस बार सबसे कम 918 पर आ पहुंचा है। आंकड़ों में तेजी से आई यह गिरावट बालिकाओं को बचाने के लिए त्वरित कदम उठाने की ओर इशारा करती है। इस संबंध में, सरकार ने देशभर में जन अभियान के ज़रिए बाल लिंग अनुपात में होने वाली गिरावट के मुद्दे को उठाते हुए बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ (बीबीबीपी) योजना की घोषणा की है। साथ ही, सरकार ने ऐसे संकट वाले 100 जिलों में हस्तक्षेप तथा बहु-क्षेत्रीय कदम उठाने पर फोकस किया है। प्रधानमंत्री ने इस कार्यक्रम की शुरुआत 22 जनवरी 2015 को हरियाणा के पानीपत में की।

ये 100 जिले 2011 की जनगणना के आंकड़ों में निम्न बाल लिंग अनुपात के आधार पर चुने गये हैं। प्रत्येक राज्य से कम से कम एक जिले को प्रायोगिक तौर पर रखा गया है। जिलों के चयन में निम्न तीन मानदंड अपनाए गए हैं- 1. राष्ट्रीय औसत से कम वाले जिले (23 राज्यों में 87 जिले), 2. जिलों में राष्ट्रीय औसत से ऊपर लेकिन गिरावट का रुख दिखना (आठ राज्यों में आठ जिले), 3. राष्ट्रीय औसत से ऊपर तथा बढ़त का रुख करने वाले राज्य (पांच राज्यों में पांच जिले)। ऐसे चयन से सीएसआर के स्तर संतुलित किए जा सकते हैं तथा अन्य जिले भी उनका अनुकरण कर और उनके अनुभवों से सीख सकते हैं।

इस अभियान के लिए बजट घोषणा में सौ करोड़ रुपये का बजटीय आवंटन किया गया है। इसके साथ ही, 12वीं योजना के लिए नियोजित 'बालिकाओं की देखभाल व सुरक्षा-एक बहु-क्षेत्रीय कार्य-योजना' की योजना लागत से भी सौ करोड़ रुपये जुटाए जाने हैं। अतिरिक्त संसाधनों को राष्ट्रीय तथा राज्य स्तरों पर कॉरपोरेट सामाजिक दायित्व से जुटाया जा सकता है। योजना पर अनुमानित लागत यदि, 200 करोड़ आती है तो इनमें से 115 करोड़ रुपये चालू वर्ष 2014-2015 (छह माह के लिए) के दौरान दिया जाना प्रस्तावित है, इसी तरह साल 2015-2016 के दौरान 45 करोड़ रुपये तथा 2016-2017 के दौरान 40 करोड़ रुपये दिए जाएंगे।

- इस योजना का संपूर्ण लक्ष्य बालिकाओं का स्वागत करना तथा उन्हें शिक्षा देना है। इसके उद्देश्य हैं, लिंग पूर्वाग्रह से ग्रसित लिंग चयन को खत्म करना व बालिकाओं के जीवन, सुरक्षा और शिक्षा को सुनिश्चित करना।
- कार्यक्रम की निगरानी के लिए आठ लक्ष्य चुने गये हैं जो मुख्यत: चयनित जिलों में सालभर में जन्म लिंगानुपात में 10 अंकों का सुधार करेंगे।
- साल 2011 में पांच वर्ष की आयु के बच्चों में मृत्यु दर के अंतर को आठ अंक से कम कर 2017 में चार अंक पर लाना।
- पांच वर्ष से कम आयु की न्यूनभार तथा रक्ताल्पता वाली बालिकाओं (एनएफएचएस के तीनों स्तरों से) के पोषण स्तर में सुधार लाना।
- आईसीडीएस की सार्वभौमिकता को सुनिश्चित करना, आईसीडीएस तथा एनआरएचएम के संयुक्त मातृ-शिशु सुरक्षा कार्डों के प्रयोग से बालिकाओं की समान देखभाल व उपस्थिति पर निगरानी रखना।
- वर्ष 2013-2014 में माध्यमिक शिक्षा में बालिकाओं का नामांकन 76 फीसदी से बढ़ाकर 2017 तक 79 फीसदी तक लाना।
- बाल लिंग अनुपात संकट वाले 100 जिलों के प्रत्येक स्कूल में 2017 तक शौचालयों की व्यवस्था करना।
- यौन अपराधों में बाल सुरक्षा कानून (पॉस्को एक्ट), 2012 लागू कर बालिकाओं के लिए सुरक्षात्मक वातावरण को बढ़ावा देना।
- बाल लिंग अनुपात में सुधार व बालिकाओं की शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए प्रशिक्षिण के बाद मनोनीत प्रतिनिधि अथवा जमीनी स्तर पर काम करने वालों को बतौर 'कम्युनिटी चैम्पियन' समुदायों से तैयार करना।

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने की रणनीति में निम्नलिखित भी सम्मिलित हैं-

- बालिकाओं के लिए समान महत्व तथा उनकी शिक्षा को प्रोत्साहन के लिए सतत् सामाजिक संग्रहण तथा वार्तालाप अभियान शुरू करना।
- सुशासन के एक हिस्से के तौर पर बाल लिंगानुपात अथवा जन्म के समय लिंगानुपात के मुद्दे जनता के सम्मुख रखना।
- लिंगानुपात संकट वाले जिलों व निम्न लिंगानुपात वाले शहरों में प्रबल व समेकित कार्य पर फोकस करना।
- सामाजिक बदलाव के उत्प्रेरकों यथा पंचायती राज संस्थानों/शहरी स्थानीय निकायों/जमीनी स्तर पर काम करने वाले कार्यकर्ताओं, स्थानीय समुदायों/महिलाओं/युवा समूहों की भागीदारी के साथ संगठित व प्रशिक्षित करना।
- सुनिश्चित करना कि लैंगिक मुद्दे और बाल अधिकारों के लिए मुख्य तौर पर सेवा देने के प्रारूप/योजनाएं तथा कार्यक्रम जिम्मेदार हैं।
- जिला/ब्लॉक/निचले स्तरों पर अंतर्क्षेत्रीय और अंतर्संस्थानिक तालमेल।

कार्यक्रम के लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में दो मुख्य घटक राष्ट्रीय, राज्य और जिला स्तर पर संयुक्त हस्तक्षेपों के साथ सौ जिलों में समुदाय स्तरीय कार्यवाही द्वारा कार्यक्रम में जनसंचार अभियान हैं। जो विभिन्न हिस्सेदारों को और अधिक प्रभावी कार्यक्रम के लिए एक साथ लेकर आता है। बहु-क्षेत्रीय कार्य, परिवार एवं स्वास्थ्य कल्याण मंत्रालय तथा मानव संसाधन विकास मंत्रालय के साथ मशविरा करने के बाद ही तैयार किए जाते हैं जो संबंधित क्षेत्रों, राज्यों तथा जिलों से गंभीर निष्कर्ष तथा सूचक इनमें शामिल करते हैं। यदि राज्य और केंद्र शासित प्रदेश कार्य बल (टास्क फोर्स) द्वारा कार्यक्रम के विकास, कार्यान्वयन तथा राज्य/जिला योजनाओं की निगरानी व बहु क्षेत्रीय कार्य के लिए लचीले ढांचे को स्वीकार करें तो इस विशिष्ट निगरानी से लक्ष्य पूरे किए जा सकेंगे।

इस कार्यक्रम की सफलता में आने वाली अड़चनों में से एक समर्थन, समुदाय लामबंदी तथा पीढ़ी की जागरूकता है। योजना के प्रस्ताव यह सुझाव देते हैं कि समुदाय लामबंदी को, *नारी की चौपाल, बेटी जन्मोत्सव, मन की बात* आदि जैसे प्रभावी कदमों के द्वारा किया जा सकता है। *बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ* का उत्सव मनाने के लिए समर्पित एक दिन हर महीने तय किया जा सकता है। राष्ट्रीय बालिका दिवस प्रत्येक वर्ष 24 जनवरी को सभी स्थानीय मत निर्माताओं समेत पंचायती राज संस्था सदस्यों, विधायकों, सांसदों आदि द्वारा मनाया जा सकता है। साथ ही, संकट वाले जिलों में भी जिला प्रशासन द्वारा जिला स्तर पर इसे मनाया जा सकता है। लैंगिक समानता के महत्व को बढ़ावा देने तथा महिलाओं और लड़कियों को सशक्त बनाने की आवश्यकता के प्रति एक अच्छा संदेश देने के लिए अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस मनाया जा सकता है।

स्रोत: महिला एवं बाल विकास विभाग, भारत सरकार

प्रकाशक एवं मुद्रक डॉ. साधना राउत, अपर महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए इंटरनेशनल-प्रिंट-ओ-पैक लिमिटेड, बी-206, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेस-1, नयी दिल्ली-110020 से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. परिसर, लोधी रोड, नयी दिल्ली-110003 से प्रकाशित। संपादक: जय सिंह

रजि.सं.डीएल (एस)-05/3231/2015-17
Reg.No. D.L.-05/3231/2015-17 at RMS, Delhi
23 जनवरी 2015 को प्रकाशित • 29-30 जनवरी 2015 को डाक द्वारा जारी

Licenced under U (DN)-55/2012-14
आर.एन.आई. 951/57
R.N.I. 951/57

अब बाजार में उपलब्ध

एक सम्पूर्ण वार्षिक संदर्भ ग्रंथ के साथ

प्रतियोगिता परीक्षाओं में

सफलता

नवीन आँकड़ों एवं तथ्यों सहित

समसामयिक ताजा घटनाओं का विश्लेषण, खेल समाचार, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, उद्योग व्यापार, विशिष्ट व्यक्तियों, पुरस्कारों एवं अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर उपयोगी सामग्री

मूल्य ₹ 290/-

कोड 870

ताजा महत्वपूर्ण घटनाओं का विवेचन

English Edition Code No. 801
• ₹ 270.00

अपने निकटतम पुस्तक विक्रेता से अपनी प्रति आज ही प्राप्त करें।

प्रतियोगिता दर्पण

2/11ए, स्वदेशी बीमा नगर, आगरा-282 002 फोन : 4053333, 2530966, 2531101, फैक्स : (0562) 4053330
• E-mail : care@pdgroup.in • Website : www.pdgroup.in
ब्रांच ऑफिस : • नई दिल्ली फोन : (011) 23251844/66 • हैदराबाद फोन : (040) 66753330
• पटना फोन : (0612) 2673340 • कोलकाता फोन : (033) 25551510 • लखनऊ फोन : (0522) 4109080

YH-314/2014